॥ श्रीजैनग्रन्थप्रकाशक सभा ग्रन्थांक ॥ ४९–५०–५१–५२ ॥

॥ ॐ श्री अर्हं नमः ॥

सर्वतन्त्रस्वतंत्र–शासनसम्राट्–सूरिचक्रचक्रवर्ति–जगद्गुरु–तपागच्छाधिपति–प्रौढप्रभावशालि–तीर्थराजश्रीकदम्बगिरिप्रभृति–
प्रभूततीर्थोद्धारक–शासनप्रभावक–भट्टारकाचार्यमहाराजाधिराजश्रीविजयनेमिसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमो नमः ॥

॥ उत्पादादिसिद्धिविवरणं–वादमाला–अस्पृशद्गतिवादः विजयप्रभसूरिस्वाध्यायश्चेति ग्रन्थचतुष्टयी ॥

न्यायविशारद–न्यायाचार्य–निजप्रतिभाप्राग्भारप्रोद्बोधितातीतपूर्वश्रुतकेवलिभगवत्–कूर्चालसरस्वती–पूर्वधरनिकटकालवर्ति–
चतुश्चत्वारिंशदुत्तरचतुर्दशशतग्रन्थप्रासादसूत्रधारभगवत्–श्रीहरिभद्रसूरिपुङ्गवलघुबान्धवप्रभृतिविशदबिरुदावली–
विभूषित–महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिप्रणीता ॥

सा चेयं राजनगर(अहम्मदावाद)स्थ श्रीजैनग्रन्थप्रकाशकसभायाः कार्यवाहकश्रेष्ठि–ईश्वरदासमूलचन्द्रेण भावनगरस्थे
प्रसिद्धे महोदयमुद्रणालये तदधिपतिश्रेष्ठि–गुलाबचंद्र लल्लुभाईद्वारा मुद्रयित्वा प्रकाशिता ॥

वीर निर्वाण सं० २४७०] वैशाख शुक्ल ३ अक्षयतृतीया [विक्रम सं० २०००

मूल्यं सार्धरूप्यकम्

॥ उत्पादादिसिद्धिविवरण–वादमाला–अस्पृशद्गतिवादादि अंगे प्रास्ताविक निवेदनम् ॥

सौजन्याम्बुधि सद्विवेकसंपन्न भव्यविद्वद्वृन्दना करकमलमां प्राप्त थता आ प्रस्तुत पुस्तकमां आवेला ग्रन्थोना विरचयिता न्यायविशारद–न्यायाचार्य–महामहोपाध्याय श्रीमान् यशोविजयजीगणि महाराज छे ते स्पष्ट दीवा जेवुं छे.तेओश्रीना वचनोनुं माहात्म्य विगेरे जिज्ञासावाळाओए सटिप्पण धर्मपरीक्षावृत्ति, वाचकग्रन्थसंग्रह, अनेकान्तव्यवस्था अपरनाम जैन तर्कग्रन्थ विगेरे ग्रन्थोनी प्रस्तावनाओ अवलोकवी । तेओश्रीना अलभ्यप्राय अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण–तत्त्वार्थ प्रथमाध्यायटीका–न्यायालोक–खंडनखंडखाद्य–तत्त्वविवेकाख्यटीकासमेन कूपदृष्टान्तविशदीकरण–निशाभक्तदोषविचार–श्रीपार्श्वनाथस्तोत्रादि स्तोत्रो–अनेकान्तव्यवस्था अपरनाम जैनतर्क विगेरे द्रव्यानुयोगना गहनविचाररूप न्यायना गंभीर विषयवाळा ग्रन्थो के जेनी एकएक ज प्रतिओ लभ्य हती. छपावती वखते प्रयास कर्या छतां पण बीजी प्रतिओ मळी शकी नथी. तेवा ग्रन्थो जेम बहार पड्या छे तेवीज रीते ते ज कोटिना के जेना नामदर्शन–श्रवण मात्रथी ज आपणे संतोष मानता तेवा अद्वितोय आ ग्रन्थो पण आजे बहार पडे छे.

१ प्रथम "उत्पादादिसिद्धिद्वात्रिंशिका विवरण ग्रन्थ"–जेनी मूळ बत्रीश कारिका तथा ते उपर लगभग पांचेक हजार श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञवृत्ति छे, तेना प्रणेता कलिकालसर्वज्ञ भगवान् " श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी "ना गुरुभाई आचार्य "श्री प्रद्युम्नसूरिपुंगव"ना शिष्य आचार्य "श्रीचन्द्रसेनसूरिप्रवर" छे. आ मूळ बत्रीश कारिकाओ पैकी प्रथमनी छ कारिकाओमां समुदित उत्पादादि त्रय के जेना उपर त्रिकालाबाध्य श्रीजैनदर्शननी पदार्थसत्तानो आधार छे. "श्रीतीर्थंकर भगवंतो" तीर्थस्थापनानी शरुआतमां ज बीजबुद्धि आदि लब्धिनिधान गणधरपदार्ह मुनिओने "उप्पज्जेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" ए त्रण पदोरूप सकलार्थ समूहमय सकल द्वादशांगीनुं मूल मातृकापदत्रयी आपे छे. तेना आलम्बनथी सूत्ररूप द्वादशांगी "श्री गणधरभगवंतो" गूंथे छे. आज हेतुथी ते द्वादशांगी. अर्थथी श्री तीर्थंकरोने आत्मागम, श्री गणधरोने अनन्तरागम अने श्री गणधरनी शिष्य–प्रशिष्यादि परंपराने परंपरागम रूप छे अने

सूत्रथी गणधरोने आत्मागम, गणधरशिष्योने अनन्तरागम, बाकी प्रशिष्यादि परंपराने परंपरागमस्वरूप छे. पूर्वधर "श्री उमास्वातिवाचके" पण "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इत्यादि संग्रहसूत्रो रच्या छे. ते सूत्रो गंभीर भाववाळा होवाथी "भगवान् उपाध्यायजीए" संपूर्ण तत्त्वार्थ टीका उपरांत "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ तद्भावाव्ययं नित्यं ॥ अर्पितानर्पितसिद्धेः" । (तत्त्वार्थ अध्याय ५, सूत्र २९–३०–३१) ए त्रण सूत्रो उपर त्रिसूत्र्यालोक रच्यो हतो. कालनी दुर्घटनाए हाल सुधी ते ग्रन्थ दृष्टिगोचर अमोने थयो नथी. ते उत्पादादित्रयीनो योग ए पदार्थसत्ता साथे व्याप्त छे तेनो विचार कर्यो छे. न्याय–वैशेषिक–वेदान्त–बौद्ध–मीमांसकादि दर्शनोए करेला सत्त्वलक्षणनुं बाधितपणुं विस्तारथी स्वोपज्ञ टीकामां बताव्युं छे. अवान्तर अनेक विचारो दर्शाव्या छे.

सात–आठ–नव ए त्रण कारिकाओमां केवळ उत्पादाधिकार, दशथी सत्तर सुधीनी आठ कारिकाओमां केवळव्ययाधिकार अने अढारथी चोवीश सुधीनी सात कारिकाओमां केवळ ध्रौव्याधिकार–ए रीते पृथक् पृथक् ते तेना स्वरूपोनी विस्तारथी परीक्षा करी छे. पचीशथी बत्रीश सुधीनी आठ कारिकाओमां प्रकीर्ण अनेक विचारो बतावबापूर्वक छेवटमां " सर्वज्ञसिद्धि "–विषय लंबाणथी चर्च्यो छे. ए रीते अनेक संगृहीत विचारोनो अधिकार छे. छेवटमां टीकानी पूर्णाहुतिमां प्रभावक मुख्य पूर्वधर " श्री मल्लवादिजी भगवंतकृत " " विधिनियमभङ्गवृत्ति–व्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ॥ जैनादन्यच्छासन–मनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥ १ ॥" ए संवादकारिका मूकी अन्तिममङ्गले ग्रन्थसमाप्ति करी छे. आ सटीक ग्रन्थ रतलामनी ऋषभदेवजी केशरीमलजी संस्था तरफथी बहार पडेल छे अने ते सुलभ छे. आ द्वात्रिंशिका गंभीर भावगर्भित जाणी उपाध्यायजी भगवंते ते उपर स्वतंत्र विस्तृत विवरण लख्युं छे. काळनी विषमतायोगे ते विवरण पुस्तकनी लिखित मूळ प्रतिमां प्रथम पत्र, नवमुं पत्र तथा पाछळनो संपूर्ण भाग उपलब्ध थयो नथी. आ अनुपम विवरणना उपलभ्यमान विवरण भागमां सत्त्वनुं वास्तविक लक्षण. तेनुं त्रिकालाबाधितपणु तथा अनन्त तीर्थंकर प्रतिपादितपणुं तीर्थंकरोपदिष्टत्वना प्रस्तावथी मीमांसकोए मानेल वेदना अपौरुषेयत्ववादनुं खंडनकरता प्रसंगानुप्रसंगथी अनेकप्रौढयुक्तिओथी पौरुषेयत्ववादनुं समर्थन सर्वज्ञगदितागमनुंज प्रामाण्य सिद्ध छे.

ते बतावबापूर्वक कर्युं छे. प्रसंगथी सर्वज्ञसिद्धिनो प्रारंभ, अवान्तर "भट्टाचार्यना मतनुं" खंडन, सर्वज्ञसिद्धिमां विरोध करता मीमांसकोनी शंकाओनुं समाधान करी आप्तोक्तागमनुं ज प्रामाण्य होवाथी सर्वज्ञसिद्धिवादनुं समर्थन, अवान्तर नैयायिकोक्त योगिज्ञानमां सर्व विषयकत्वनुं खंडन, प्रसंगथी बौद्धमतना खंडननी शरुआत, सर्व पदार्थनुं केवलज्ञानगम्यत्व मानवामां अपाता सर्ववस्तुपरिसमाप्तिरूप आपत्तिदोषनो उद्धार करी 'उत्पादादित्रययोगित्वं सत्त्वम्' ए लक्षणनी सिद्धि-नैयायिक-वैशेषिक-बौद्धादि दर्शनोए मानेला सत्त्वना लक्षणोनुं बाधितपणुं सिद्ध करी तेनुं खंडन कर्युं छे. अवान्तर अनेकवादिओए आपेल दोषोनो परिहार कर्यो छे. विस्तारथी बौद्धोए मानेल सत्त्वना शक्तिलक्षणनुं तथा उपलब्धि ए ज सत्ता छे ए बौद्ध विशेषना मानेल लक्षणनुं खंडन, अवान्तर बौद्धना अर्थखंडन प्रश्नो, अवयविनिरास विचार, बौद्धाभिमत "धर्मोत्तरना न्यायबिन्दुनो" विचार विगेरे बतावी खंडन करता कथंचित् परमाण्वात्मक अने परमाणुअन्यस्थौल्य तत्त्वनुं समर्थन, बौद्धमतनिरास प्रसंगमां ज 'विलक्षण संयोगवाळा अणुओ ज पट छे' इत्यादि विचारो माननार नव्यनास्तिक मतनुं खंडन, वळी तेज अवयविविचारमां अवान्तर कर्मनुं अव्याप्यवृत्तिपणुं नथी तेम माननार प्राचीन नैयायिक मतनुं, कर्मनुं अव्याप्यवृत्तिपणुं छे तेम माननार नव्यनैयायिक मतनुं तेमज अवयविविचारमां आवृतपदार्थना परिमाणमां रहेल वैजात्य ग्रहण थतुं नथी तेम माननार मतनुं खंडन, वळी ते ज प्रसंगमां "मथुरानाथना" मतनुं खंडन, उत्पादव्ययध्रौव्य सिवाय वस्तुत्व घटी शकतुं नथी ते समर्थन करवापूर्वक उत्पादादि त्रणनुं निर्वचन करता ते त्रणेनुं अन्योन्य संवलित रहेवापणुं सिद्ध करवापूर्वक ते त्रणेना परवादिकृत लक्षणोनुं खंडन करी स्वाभिमत लक्षणोनुं स्थापन कर्युं छे, ते त्रणेनी परस्पर व्याप्ति होवाथी अविरोधभाव सिद्ध छे ते नहि सहन करता बौद्धविशेष "अर्चटना" मतनुं खंडन करवासाथे ते संबंधमां प्राचीनोना तथा पोताना विचारोनुं प्रदर्शन करी ते त्रणेना सामानाधिकरण्यमां अनेकान्तवादनुं स्थापन करता वादीए आपेल दोषोनो उद्धार, ते संबंधमां "समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा"नी साक्षी आपी छे. "पशुपालीयमतथी" अपातो अनवस्थादोषनो परिहार एकान्तवादीओए मानेल उत्पादादिनुं खंडन, स्वाभिमत उत्पादधर्मनुं स्वरूपनिरूपण अने तेना समर्थन साथे परिणामवादनुं समर्थन

करता आ विवरण ग्रन्थ अहींथी अपूर्ण रहे छे. उपर दिग्दर्शन मात्र बतावेल विषयोवाळा विवरणनो आ "शेषारूप" उपलभ्यमान भाग पण सहृदय विद्वद्वर्गमां घणो ज सम्मान्य आदरणीय अने उपादेय छे तेम समजी टूंकाणमां कहीए तो उपाध्यायजी भगवंतनुं एक वाक्य पण सम्मान्य छे ते भक्तिथी अपूर्णावस्थ पण ते ग्रन्थ जिज्ञासुओने अर्थानुसन्धानमां क्षति न आवे ते खातर प्रारंभ भाग तथा मध्यभाग योजित करी बहार पाडवामां आवे छे. आ त्रुटित भागनी पूर्ति माटे योजना करवामां उपाध्यायजी भगवंतना आशय विरुद्ध लखाणुं होय तो ते संबंधी मिथ्या दुष्कृत आपीए छीए. आ अपूर्ण विवरणमां आवता विषयनी सूचना प्रतिपत्र प्रतिपृष्ठे उपान्त्य भागमां प्रकट करेली छे. सातमी कारिकानी टीकाथी आ विवरण अपूर्ण रहे छे.

२ द्वितीय ग्रन्थ "वादमाला"—आ ग्रन्थनी पण स्वहस्ताक्षरीय एकज मूळप्रति मळता विद्वत्समाज तेनो लाभ लई शके अने आवो अजोड ग्रन्थ पण विच्छेद न जाय ते हेतुथी आजे प्रकाशित थाय छे. आ ग्रन्थमां पण आवतो विषयविचार प्रतिपत्र प्रतिपृष्ठे सूचववामां आव्यो छे. आ ग्रन्थमां पोते सात वादो जणाव्या छे जेमां सर्व प्रथम "चित्ररूप विवेचक वाद" लख्यो छे. शरुआतमां मंगलाचरण करी चित्ररूप नहि स्वीकार करनार नव्यनैयायिकोनो पूर्वपक्ष अवान्तर चित्ररूप स्वीकारनार वादीओए करेली शंकाओना समाधानपुरःसर लंबाणथी बताव्यो छे, प्राचीन नैयायिको के जेओ चित्ररूप माननार छे तेओना विचारथी नव्यपक्ष विचारनुं खंडन, स्वतंत्र विचारकोनो ते संबंधमां विचार, प्राचीनोना विचारथी चित्ररूप परिष्कारमां अव्याप्यवृत्तिरूप माननार पक्षनुं खंडन, चित्ररूप पक्षमां कारणताभेदनुं देखाडवुं, अवान्तर अनेकजातीय चित्ररूप माननावाळा उल्लुंखलो विगेरेना विचारो, चित्ररूप मानवामां गौरवदोष आपनार वादीओनुं खंडन, व्याप्यवृत्तिनीलादि मानवाथी चित्ररूप खंडन करनाराओनुं निरसन, रूपनी जेम रसगन्धमां चित्रपणानी आपत्ति आवी शकती नथी ते समर्थन, चित्ररूप नहि मानता अवयवगतरूप-स्पर्शो ज छे, अवयविमां नीरूपत्व-निःस्पर्शत्व छे ते मान्यतावाळा वादीओनुं खंडन, आ सर्व परस्पर विवादाध्यासित विचारो बतावी ग्रन्थकारमहाशये पोतानो परिशीलित मार्ग बताव्यो छे. अवान्तर चाक्षुषप्रत्यक्षमां रूपनी कारणता नथी पण शक्ति-

मस्यनी हेतुता छे ते प्रश्ननुं खंडन करी चित्ररूप वादनी समाप्ति करी छे. आ चित्ररूपवादने ग्रन्थकार महाशये 'स्याद्वादकल्पलता' (शास्त्रवार्ता समुच्चयनी टीका) स्तबक छट्ठाना श्लोक ३७ मानी टीकामां घणी ज प्रौढयुक्तिओ पुरस्सर चर्च्यो छे. अन्यत्र 'सम्मति टीका' विगेरेमां पण तेनी चर्चाओ थएली छे. वळी स्याद्वाद कल्पलतामां लखे छे के–'विस्तरस्तु स्याद्वादरहस्ये' आ उपरथी जणाय छे जे स्याद्वादरहस्यमां तेनो घणो ज विस्तार कर्यो छे–स्याद्वादरहस्य माटे तो तेमना न्यायालोक–ज्ञानार्णव टीका विगेरे अनेक ग्रन्थोमां भलामण आवे छ. कालयोगे हजु ते ग्रन्थ अमोने उपलब्ध थयो नथी. आ प्रमाणे लगभग बीजा वादो पण प्रसंगानुप्रसंगथी अन्यान्य ग्रन्थोमां तेओश्रीए तथा अन्य पूज्यपुरुषोए चर्च्या छे.

बीजो "लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवाद"—आ पक्षना माननार वैशेषिक मतथी तेमां आवती विरोध शंकाओनो परिहार, वैशेषिकोए करेल अनेक प्रश्नोना प्रतिविधानो, अन्यकृत उत्तरोनुं खंडन, "गुरुचरण (न्यायदर्शनना एक शिष्ट पुरुष)नो" आशय विगेरे अनेक विचारो दर्शावी छेवटे पोते ते वैशेषिक पक्षना खंडननो प्रकार विशद रीते बतावे छे, ए रीतिए आ लिङ्गोपहितलैङ्गिकभान वादनुं रहस्य पूर्ण करे छे.

त्रीजो " द्रव्यनाशहेतुताविचारवाद "—प्राचीन नैयायिको निमित्तथी भिन्नकारणनाशथी द्रव्यनाश माने छे. नव्यनैयायिको तेनो विरोध करी एकला असमवायिकारणनाशथी द्रव्यनाश कहे छे. ए सर्व विस्तारथी बतावता अवान्तर स्वतंत्र मतोनुं खंडन कर्युं छे. वळी आ संबंधमां पण नैयायिकोना शिष्ट पुरुष "गुरुचरणनो" आशय व्यक्त कर्यो छे. आ रीतिए आ त्रीजा द्रव्यनाशहेतुताविचार वादनी पण समाप्ति करी छे

चतुर्थ " सुवर्णतैजसत्वातैजसत्ववाद "—सुवर्ण तैजस द्रव्य छे तेम नैयायिकोनुं मानवुं छे, बीजा तेनो निषेध करे छे. सुवर्ण एक पार्थिव खनिज पदार्थ छे. आ संबधमां केटलाएक वादि नैमित्तिक द्रवत्व पृथ्वीथी भिन्न द्रव्यवृत्ति छे ! तेम कहे छे त्यारे केटलाएक तेम नथी इत्यादि नाना विप्रतिपत्तिओ करे छे. आ संबंधमां प्रथम नैयायिकोना पक्षथी सुवर्णमां तैजसत्व- ॥ ३ ॥

साधक अनुमान बतावी हेत्वन्तर्गत अनुच्छिद्यमान द्रवत्वना विरोधमां पार्थिवद्रवत्वनाशमां प्रतिबन्धक संयोगविशेषनुं अनुमान देखाड्युं छे, द्रवत्वमां उत्कर्षत्व-अपकर्षत्व ए बे भिन्न जातिओ नथी तेम सिद्ध करी उत्कर्ष-अपकर्षनुं स्वरूप बताव्युं छे. पुनः नैयायिक विशेषना पक्षथी तैजसत्वसाधनमां नैमित्तिकद्रवत्वनाशमां निमित्तनाश कारण छे इत्यादि मतप्रदर्शन करता नैयायिक-पक्षथी विरोधमां आवती परवादिकृत शंकाओनुं समाधान बतावना पीतरूपथी भिन्नरूपनो प्रतिबन्धक संयोगविशेष प्रदर्शन करी नैयायिकोए तैजसत्व सिद्धि करी परन्तु छेवटे ग्रन्थकारमहाशये नैमित्तिकद्रवत्व प्रत्ये पृथ्वीत्वनी ज कारणता छे ते सयुक्तिकसिद्ध करी सुवर्णमां पार्थिवत्व पक्षनुं समर्थन कर्युं छे. आ प्रमाणे सुवर्णतैजसत्वातैजसत्ववाद समाप्त कर्यो छे.

पांचमो "अन्धकारभाववाद" "भाट्ट(मीमांसकविशेष)तौताततिमतानुयायिओ" अन्धकार भाव छे तेम कहेछे, नैयायिको तेनो निषेध करे छे. आ स्थळे मीमांसकना आशयनुं निरूपण, अवान्तर त्रुटिस्पर्शमां अनुद्भूतपणुं होवाथी अग्राह्यत्वसाधन, त्रुटि तथा तेना स्पर्शनुं ग्राह्यपणुं छे ते मतनुं खंडन, अन्धकारमां नीलपणुं होवाथी पार्थिवत्वापत्तिदोषनुं नैयायिकमतथी खंडन, अन्धकारने द्रव्य मानवा जता तेने स्पर्शवाळा अवयवथी जन्यपणुं मानवुं पडशे ते आपत्तिदोषनुं खंडन, प्रसंगथी द्रव्यारंभकत्व विचारमां मनथी भिन्न मूर्तत्व अगर सामान्य मूर्तत्व मानीए तो तेमां मनमां आवती दोषप्राप्ति निवारण माटे विजातीय संयोगरूप हेत्वन्तरनो अभाव मानी ते रूपे कारणता मानवी विगेरे अनेक मतभेदोनुं निरूपण, साथे साथे भूतत्वविचार, द्रव्यारंभकता विषयमां स्व-तंत्र नैयायिकोनो विचार, अन्धकारने अभावरूप माननार नैयायिकमतनुं प्रदर्शन, अवान्तर तेना विरोधि मतविचारो तथा तेनुं खंडन, घुअड आदिना चाक्षुषप्रत्यक्षमां आलोकविशेषनी कारणता माननार पक्षनुं खंडन, चाक्षुषप्रत्यक्षमां आलोक संयोगनी कारणतानो असंभव छे ते शंकानुं समाधान, तमना अभावनुं कारणपणुं मानवा करतां आलोकत्वरूपे कारणता मानवामां लाघव ते संबंधमां "वर्धमानोपाध्याय"(न्यायदर्शनना समर्थ ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणिना प्रणेता "गंगेशोपाध्यायना पुत्र" जेओ बन्ने पण मनीषि-मंडळमां समानकोटि विद्वानो गणाय छे. वर्धमानोपाध्याये चिन्तामणि-न्यायकुसुमांजलि-आत्मतत्त्वविवेक विगेरे उपर विवरणो

लख्यां छे)ना मतनुं प्रदर्शन कर्युं छे. वळी पण न्यायमतथी अधिक द्रव्य मानवामां गौरव विगेरे दोषोनुं देखाडवुं, तेमज "उदयनाचार्य" (न्यायकुसुमांजलि–बौद्धाधिकार अपरनाम आत्मतत्त्वविवेक–न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि विगेरे अनेक ग्रन्थोना प्रणेता जेमणे बौद्धोनो महान् पराजय करी जगन्नाथना दर्शनार्थे आवता मंदिरना द्वार बंध देखी आवेशमां आवी जगन्नाथने आक्षेप करता कह्युं के–"ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि, मामवज्ञाय वर्तसे ।। उपस्थितेषु बौद्धेषु, मदधीना तव स्थितिः ॥१॥" हे दुर्मति ! शुं तुं मारी अवज्ञा करी ऐश्वर्यनी छाकथी मत्त बन्यो छुं, ज्यारे बौद्धोनो विस्तार फेलायो त्यारे जो में तेमने परास्त न कर्या होत तो तने माननार ज कोण रहत अर्थात् तेवे वखते मारे आधीन ज तारी स्थिति हती इत्यादि लखनार प्रखर विद्वान्)ना मते अभावज्ञानमां प्रतियोगि ज्ञाननी कारणताना नियमे तमना प्रत्यक्षमां आलोक ज्ञाननी कारणता अवश्य छे तेम बतावी तमनुं आलोकाभाव पणुं स्थापित कर्युं छे. तेनाथी विरुद्ध नव्यनैयायिकोना मतनुं प्रदर्शन करावी ते पक्षनुं खंडन कर्युं छे. तमनुं अभावपणुं मानता निर्विकल्पकत्वापत्ति दोषनो परिहार तेमज अभावपणुं कहेता उत्कर्षत्व अपकर्षत्व अभावमां न रही शकवाथी अन्धतमस अवतमस विगेरे केम बनी शके ? विगेरे शंकानुं निराकरण, अन्धतमस–अवतमसनुं स्वरूप, तमस्त्वादि एक अखंड धर्म छे तेम स्वतंत्र नैयायिकोनुं मत प्रदर्शन, भाववृत्तित्व सहित आलोकाभावत्व ए तमनुं स्वरूप छे तेम नैयायिक विशेषना मते समर्थन, "प्रभाकर" के जेओ मीमांसकना अभिमतगुरु भट्टना शिष्य अभावना स्थानमां ज्ञानने व्याजबी रीते स्थापन करता ते प्रभाकर बुद्धबन्धु तरीके प्रसिद्ध छे. बीजापक्षे प्रभाकर एटले सूर्य अने बुद्धबन्धु ए सूर्यवाचक शब्द छे एटले ए पर्याय शब्दो छे. कहेवाय छे के–"गुरुर्विषयमभावस्य, स्थाने स्थानेऽभिषिक्तवान् ॥ प्रसिद्ध एव लोकेऽस्मिन्, बुद्धबन्धुः प्रभाकरः ॥१॥" प्रसिद्धि छे के–प्रभाकर पोताना गुरु भट्ट तरफथी ज 'गुरु' एवा उपनामथी बोलावाया हता, आ बाबतमां किंवदन्ती चाले छे के–एक दिवस प्रभाकर भट्ट गुरु पासे भणता हता तेवामां ग्रन्थमां एक वाक्य आव्युं "पूर्वं तुनोक्तमधुनापिनोच्यते इति न पुनरुक्तदोषः" आ वाक्यनो अर्थ समजावता समर्थ बुद्धिशालि प्रखरप्रतिभासंपन्न होवा छतां भट्टपंडितने आ वाक्यमां 'पहेला तो कह्युं नथी अने हवे पण कहेता

नथी माटे पुनरुक्तदोष आवतो नथी' आवो साहजिक उपस्थित अर्थ करवा छता अर्थ संगति न लागवाथी भट्ट मुंझावा लाग्या. मुंझवाने बहाने, कोई कहे जंगल जवाने बहाने वारंवार विचार करवा बहार जाय अने आवे. तेम केटलीकवार थता विचक्षण बुद्धि-इंगिताकारकुशल प्रभाकरने तेमनी मूंझवणनी शंका पडी. पुस्तक हाथमां लेताज यथार्थ अर्थ उपस्थित थयो. पुस्तकमां 'तुना' अने 'अपिना' आ प्रमाणे पदच्छेद करी पुस्तक मूकी दीधुं. भट्टे आवी जोयुं. अर्थसंगत थई गयो. 'पहेला तुशब्दथी कह्युं छे हाल अपिशब्दवडे कहेवाय छे माटे पुनरुक्त दोष थतो नथी.' आ रीतिए अर्थसंगति थवाथी प्रसन्न थई प्रभाकरने गुरुपदथी बोलाव्या. त्यारथी प्रभाकर उपनाम गुरुशब्दथी प्रसिद्धि पाम्या. अने भट्ट माटे कहेवत चाली के 'भट्टस्य कट्यां क्षरटः प्रविष्टः' ते प्रभाकरना मतथी. आलोकज्ञानाभाव अर्थात् आलोक नथी इत्याकारक ज्ञानरूप ज तम छे ज्ञानाभाव ए मानस गोचर होवाथी 'तमः पश्यामि' इत्यादि चाक्षुष प्रतीतिनो अपलाप प्रसंग आवशे आ विगेरे युक्तिथी न्यायमतथी ते पक्षना खंडनपूर्वक तेमां अपाता गति विगेरे दोषोनो उद्धार छेवटना उपसंहारमां जैनदर्शनने अविरुद्ध कथंचित् सर्व पदार्थमां स्वद्रव्यादिस्वस्वरूपे भावत्व अने परद्रव्यादि स्वरूपे अभावत्व पण छे तेज समर्थन जाणे बतावता न होय तेम प्राचीनोनुं मतप्रदर्शन करवासाथे अन्धकारभाववाद पूर्ण थाय छे.

छट्ठो "वायुस्पार्शनप्रत्यक्षवाद"–आ विचारमां मीमांसकोनो आशय जेम द्रव्यना चाक्षुष प्रत्यक्षमां उद्भूतरूप कारण छे तेम द्रव्यना स्पार्शन प्रत्यक्षमां पण उद्भूतरूप कारण छे. ते परवादि प्राचीन नैयायिकोनी शंकानो परिहार करवा साथे चाक्षुषमां उद्भूतरूप अने स्पार्शनमां उद्भूत स्पर्शनी कारणतानुं युक्ति साथे समर्थन, अवान्तर मीमांसक मतना प्रसंगमां अनुकूल प्रतिकूल अनेक मतनुं प्रदर्शन, नव्य नैयायिक मते वायुस्पार्शनत्व विचार, कारणताविशेषद्वाराए वायुस्पार्शनत्वनुं समर्थन, वायुस्पार्शनत्व नहि माननारनुं मतप्रदर्शन करता तेमां अनेक कार्यकारणभाव संबंधमां लाघव गौरवादि प्रदर्शित कर्युं छे. न्यायमतथी वायुमां स्पार्शनत्वनुं उपपादन करतां स्वतंत्र मतनुं खंडन करवा साथे भिन्नभिन्न तार्किकोना विचारो बतावता साथे आ वायुस्पार्शनप्रत्यक्षवादनी समाप्ति थाय छे.

सातमो "शब्दनित्यत्वानित्यत्ववाद"—आ संबंधमां मीमांसको कहे छे के 'आ ते ज गकारादि शब्द छे जे पहेला में सांभळ्यो हतो' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान शब्दनी नित्यत्वसिद्धि करे छे 'गकार उत्पन्न थयो, विनष्ट थयो' इत्यादि अनित्यत्वसाधक प्रतीतिओ भ्रान्त छे. अनित्य मानवामां शब्दना अनन्तप्रागभाव-प्रध्वंस विगेरे कल्पवामां गौरव छे. अवान्तर प्रत्यभिज्ञाननुं भ्रान्तपणुं कहेनार मतनुं खंडन, नैयायिकमते शब्दनुं अनित्यत्व साधन करता गौरव लाघव विचारमां नैयायिक मते लाघवनुं समर्थन करनार मतनुं खंडन, मीमांसकानुयायिओना विचारनुं प्रदर्शन करी तर्कानुसारिओना मतथी शब्दना जन्यत्वनुं साधन करवाथी अर्थापत्तिए जैन दर्शनने अविरुद्ध द्रव्यार्थिकनयथी नित्यत्व अने पर्यायार्थिकनयथी अनित्यत्वनुं स्थापन कर्युं छे. आ रीते आ वाद अहीं समाप्त थतां सात वादगर्भित आ "वादमाला" ग्रन्थ पूर्ण कर्यो छे. वादमालामां ग्रन्थसमाप्तिसूचक वाक्य न होवाथी आगळ बीजा अनेक वादो रच्या हशे अगर रचवा इच्छा हशे तेम जणाय छे पण प्रस्तुत प्रति तो आटलेथी ज पूर्ण करी छे.

३ त्रीजो ग्रन्थ "अस्पृशद्गतिवाद"—आ ग्रन्थ अपूर्ण अवस्थामां एक पत्र मात्र श्री जैन आत्मानन्द सभा तरफथी बहार पडेल गुरुतत्त्वविनिश्चय ग्रन्थने अन्ते छपायो हतो साहित्यप्रेमी मुनिराज श्री पुण्यविजयजी पासेथी तेनी पूर्ण प्रति मळतां आ ग्रन्थ पण एकवादरूप होवाथी वादमालानी साथे साथे बहार पाडवामां आव्यो छे. आ अस्पृशद्गतिवादनी साक्षि न्यायखंडखाद्य टीकामां पोते ज आपे छे. आ ग्रन्थमां सकळ कर्मक्षय थये सिद्धिक्षेत्रमां जता जीवनी गति संबंधमां विचारभेदनुं अनेक सिद्धान्त-ग्रन्थो विगेरेना संवादपाठोथी रहस्य तारव्युं छे छेवटे स्याद्वादकल्पलता(शास्त्रवार्तासमुच्चय उपरनी टीका)नी अधिक जिज्ञासा माटे भलामण करे छे. दुर्भाग्यवशे हाल मळी आवती तेनी टीकामां मात्र नीचेनी पंक्तिओ ज मळी आवे छे जुओ शास्त्रवार्तासमुच्चय नवमा स्तबकना "ततः स सर्वविद् भूत्वा, भवोपग्राहिकर्मणः॥ ज्ञानयोगात्क्षयं कृत्वा, मोक्षं प्राप्नोति शाश्वतम्॥२१॥" आ श्लोकनी टीकामां "ततश्चतुर्थशुक्लभेदेन सकलभवविटपिदवानलकल्पेन भवोपग्राहीणि कर्माणि समन्ताद् भस्मसात्कृत्यौदारिकतैजसकार्मणानि शरीराणीह त्यक्त्वा प्रदेशान्तराणि चास्पृशनृज्वा श्रेण्यैकेन समयेन याति सिद्धि-

क्षेत्रं साकारोपयोगोपयुक्तः ॥ " आ उपरथी सहज अनुमान थई शके छे के–आ टीकामांथी घणोभाग त्रुटित थयो होय? आ अनुमानने अन्तिम भाग पुष्टि आपे छे ज्यारे उपाध्यायजी भगवान् दरेक स्तबकनी पूर्णतामां स्तबकना सारगर्भित काव्यो तथा स्वगुरुनामादि प्रशस्ति लखे छे अने ते प्रमाणे दशे स्तवकोमां देखाय छे ज्यारे अगीयारमा स्तबकना अन्तिम श्लोकोनी टीका देखाती नथी, तेमज पूर्ववत् अन्तिम स्तबकनी पूर्णतामां कांईपण देखातुं नथी. उपाध्यायजीभगवंतनी श्रीसिद्धसेनदिवाकर, श्री हरिभद्रसूरि आदि पूज्यतम पुरुषो प्रत्ये केटली निष्प्रतिम भक्ति छे ते तेओश्रीना ग्रन्थोमां आवता वचनो उपरथी स्पष्ट देखाय छे छतां ते माटे आ एक ज पद्य पूरावारूपे बस थशे. " येषां गिरं समुपजीव्य सुसिद्धविद्या–मस्मिन्सुखेन गहनेऽपि पथि प्रवृत्तः ॥ ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः, श्रीसिद्धसेन–हरिभद्रमुखाः सुखाय ॥ १ ॥ " (स्याद्वादकल्पलता स्तबक ११ मानी टीकानुं मंगल.)

४ चोथो ग्रन्थ " श्री विजयप्रभसूरिस्वाध्याय " आ स्वाध्याय तार्किकयुक्तिविचारगर्भित गच्छपति श्रीविजयप्रभसूरि महाराजनी स्तुतिरूपे रचेल छे. आ स्वाध्याय मात्र सातपद्यनो लघुग्रन्थ होवा छतां स्याद्वादनी महत्तासूचक होवाथी आ साथे दाखल कर्यो छे. जे आ पुस्तकनुं प्रान्त मंगल छे.

आ चार ग्रन्थोनो आ पुस्तकमां समावेश थाय छे. आ ग्रन्थो माटे प्रयास करता पण बीजी प्रतिओ न मळवाथी एक एक ज प्रतिओ उपरथी आ मुद्रणकार्य थयुं छे. बनती काळजीए ग्रन्थोनी शुद्धि माटे उद्यम कर्यो छे छतां बीजा पुस्तकादिनी सामग्री नहि मळवाथी तथा छद्मस्थजनसुलभ अनुपयोग दोषथी, प्रेसना सीसकाक्षर योजक विगेरेनी भूलथी तेमज प्रायः समाकृति केटलाक वर्णोमां प्रुफ सुधारता थयेल भ्रान्ति आदि कारणोथी थयेल अपराधनी क्षमाभ्यर्थना साथे सुज्ञ जिज्ञासु भव्यात्माओ ते सुधारी वांचन करी सत्यतत्त्वपरिज्ञान मेळवी, असार पौद्गलिकभावोथी विरक्त बनी, शुभसदनुष्ठान आराधनाकरवापूर्वक परमपद प्राप्त करो ते ज अभिलाषा पुरःसर निवेदन पूर्ण कराय छे.

निवेदयित्री—श्रीश्रमणसङ्घक्षमाभ्यर्थिनी श्रीजैनग्रन्थप्रकाशकसभा—अमदावाद

॥ उत्पादादिसिद्धिविवरण—वादमालाग्रन्थद्वयशुद्धिपत्रकम् ॥

अशुद्ध	शुद्ध	प.	पृ.	प.	अशुद्ध	शुद्ध	प.	पृ.	प.
व्यक्त्याभेद	व्यक्त्यभेद	२	२	९	ध्रौव्ये-र्वस्तु	ध्रौव्यै-र्वस्तु	१३	२	६
वास्तन्त्र्येण	स्वातन्त्र्येण	३	१	७	रूपस्य परि	रूपस्याऽपरि	१५	२	६
र्थमानस्ये	र्थभानस्ये	४	१	१४	त्यागेनापरि	त्यागेन परि	१५	२	६
व्यहारा	व्यवहारा	७	२	४	अस्याभेद	अस्या भेद	१६	२	७
दिति,ना	दितिना	१०	१	२	हहेतुचि	हे हेतुः, चि	२०	१	१
दिक्पद्क	दिक्पद्क	१०	१	२	च सम्बन्ध	च सबद्ध	२१	१	२
अयोगेप्र	अयोगेऽप्र	१०	२	२	मितोमी	मिनोमी	२१	२	९
चरणे शरीरं	चरणे शरीरं न चल- तीतिवत्पाणौ शरीरं	११	२	१२	धूंमपरा	धूंमपरा	२१	२	११
					सङ्करमिया	सङ्करभिया	२४	२	५
ययवी	यवयवी	१२	१	११	वच्छेकं	वच्छेदकं	३०	२	३

ग्रन्थानुक्रमः—उत्पादादिसिद्धिविवरण पत्र १ थी १६ ॥ वादमाला १७ थी ३२ ॥ अस्पृशद्गतिवाद ३२ थी ३६ ॥

॥ ॐ ह्रीँ श्री अर्हं सकललब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमो नमः ॥

कलिकालसर्वज्ञ–प्रतिबोधिताष्टादशदेशामारिप्रवर्तनाद्यवाप्तपरमार्हतादिबिरुदराजर्षिकुमारपालभूपाल–सार्धत्रिकोटीश्लोकमित-ग्रन्थसूत्रणसूत्रधार–श्रीहेमचन्द्रसूरिगुरुभ्रातृ–श्रीप्रद्युम्नसूरिशिष्यश्रीचन्द्रसेनसूरिसन्दृब्धम् ॥

न्यायविशारद–न्यायाचार्य–महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिप्रणीतविवरणसमलङ्कृतम्—

॥ उत्पादादिसिद्धिनामधेयं (द्वात्रिंशिका) प्रकरणम् ॥

॥ मूलपुस्तके प्रथमपत्रस्य त्रुटितत्वाद् तद्बुभुत्सूनामर्थानुसन्धानाय योजितोऽयं [ ] एतच्चिन्हमध्यवर्ती पाठः ॥

[ऐन्द्रवृन्दनतं वीरं, नत्वा तत्त्वार्थदर्शिनम् ॥ उत्पादादिसिद्धिनाम–ग्रन्थव्याख्यां तनोम्यहम् ॥ १ ॥

यद्यपि प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्थितिरिति प्रमाणनिरूपणपुरस्सरमेव प्रमेयनिरूपणं कर्तव्यं भवति तथापि प्रमाणमपि नावस्तु सद् वस्तुनः प्रमेयस्य साधकं, किन्तु वस्तुभूतमेव प्रमाणं वस्तुभूतस्य प्रमेयस्य साधकमिति वस्तुत्वमेव प्रमाणप्रमेयोभयानुगतं प्रथमं लक्षयितव्यं भवति तत्र 'यत्सत्तद्वस्तु' इति सर्वैरपि वादिभिरविगानेन प्रतीतमिति यदेव सत्त्वस्य लक्षणं तदेव वस्तुत्वस्येति स्थितौ 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्' इति सौगताः, 'सत्ताख्यपरसामान्यं सत्त्वम्' इति नैयायिकाः, 'पुरुषस्य चैतन्यरूपत्वं तदन्येषां त्रिगुणात्मकत्वं सत्त्वम्' इति कापिलाः, 'सत्त्वं त्रिविधं पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च' इति वेदान्तिनश्च कल्पयन्ति, एवमनेकधा वादिनो विप्रतिपन्नाः, परप्रदर्शितैकान्तवाद्यभिमतलक्षणलक्षितं सत्त्वं तद्रूपं वस्तुत्वं चानेकदूषण-

कदर्थितं न सिद्धिपथमवतरतीत्यतोऽनेकान्तवाद्यभिमतं सत्त्वलक्षणमाविष्कुर्वन्नेव तदुपदेष्टृसर्वज्ञाप्तप्रणतिलक्षणं मङ्गलमाह—

यस्योत्पादव्ययध्रौव्य–युक्तवस्तूपदेशतः ॥ सिद्धमाप्तस्वभावत्वं, तस्मै सर्वविदे नमः ॥ १ ॥

श्रीमता भगवता पूर्वधरेणोमास्वातिवाचकपुङ्गवेन "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति(अ०५–२९)सूत्रेणोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं सतो लक्षणमुक्तं ॥ न च तल्लक्षणं तत आरभ्यैव व्यवस्थितस्वरूपम्, किन्तु श्रीमद्भिर्भगवद्भिस्तीर्थंकरैस्सकलवस्तुप्रकाशककेवलज्ञानवद्भिरपि श्रीमतो गणधरान्प्रति 'उप्पज्जे इ वा' 'विगमे इ वा' 'धुवे इ वा' इति त्रिपद्या इदमेव सत्त्वलक्षणमभिहितमित्याह—यस्येति, अस्याप्तस्वभावत्वेऽन्वयः, न ह्युपदेशोऽकर्तृकोऽन्यानाप्तकर्तृको वा स्वाकर्तुराप्तत्वं साधयितुमीष्टे इत्यर्थादुपदेशस्य तत्सम्बन्धित्वं लभ्यते, सम्बन्धश्च जन्यजनकभाव एव, ततश्चोपदेशस्वरूपत्रिपद्यास्सर्वविदे इत्युत्तरवचनलब्धसर्वज्ञप्रभवत्वोक्त्या तत एव सिद्धप्रमाणभावायां तस्यां न तत्प्रामाण्यप्रसाधनाय प्रमाणान्तरगवेषणा कार्येति दर्शितम् ॥ यस्येति यत्पदसर्वनाम्ना सामान्यतः सकलसर्वज्ञतीर्थङ्करसम्बन्धित्वोक्त्यैकेनैव श्रीमता महावीरेणापश्चिमतीर्थकृता दर्शितत्रिपद्यैव नेदं लक्षणमभिहितं किन्त्वनन्तैरपि तीर्थकरैरित्थमेवेदमभिहितमिति प्रतिपादितं भवति, उत्पादव्ययध्रौव्याणामन्योन्याजहद्वृत्तीनामेव कथञ्चिद्भेदसम्पृक्ताभेदात्मकाविष्वग्भावलक्षणसम्बन्धेन सल्लक्षणत्वं नैकैकस्य तत्त्वमित्यभिप्रायेणोक्तं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तेति—उत्पादादीनां पृथगसाधारणस्वरूपता चेत्थं, वस्तुनो भाव उत्पादः, नाशो व्ययः, ध्रुवा स्थितिर्ध्रौव्यम्॥ तत्र भवनं परिणमनं भावः स वस्तुन उत्पादः, नाशश्च पूर्वपर्यायस्वरूपपरित्यागलक्षणः न तु सर्वथाऽसत्कल्पना, स एव वस्तुनो व्ययः, ध्रुवेतिभावप्रधाननिर्देशाद् ध्रौव्यं तच्च स्थितिः, पूर्वापरपर्यायानुगामिद्रव्यरूपेण यदवस्थानं तद्वस्तुनो ध्रौव्यमिति॥

सविवरणम् ॥
वस्तुतः सत्त्वस्य लक्षणं तस्य त्रिकालाबाध्यत्वं अनन्ततीर्थकरगीतत्वं च ॥

॥ १ ॥

त्रिपद्यनुसारेव तत्त्वार्थसूत्रे ‘ उत्पादव्ययध्रौव्यैतत्त्रितययुक्ततत्वं सत्त्वमुक्तम् , ’ तथात्राप्युत्पादव्ययध्रौव्यैतत्त्रितययुक्तत्वमेवाभिहितमिति ततोऽस्य न भेद इति ॥ उक्तत्रितयस्यैव सल्लक्षणत्वे तत्राऽत्र च युक्तत्वमधिकमिति न शङ्कितव्यम् , घटत्वघटत्ववत्त्वयोरिवानयोरप्यभेदादितिभावः, योगस्तादात्म्यलक्षणसम्बन्धस्वरूपस्तत्राऽत्र च सम्बन्धविधयैव लक्षणतानियामक उक्तोप्यभिप्रेत एवेति, एतत्त्रितययोगस्याभिमतत्वादेव द्वितीयपद्ये “ यदुत्पादव्ययध्रौव्य–योगिताम् ” इत्युक्तम् ॥

कथमन्योन्यविरुद्धस्वभावानामुत्पादादित्रयाणामेकत्र योग इति शङ्कासमुद्धरणायावच्छेदकभेद एतेषां विरोधभञ्जको व्याख्यानतोऽवबोद्धव्यो भवति ॥ अत्र यस्येतिविशेषणसामर्थ्यादेव सोऽवगम्यते उपदेशलक्षणत्रिपद्यां वाकारोपादानत एवावच्छेदकभेदेन त्रयाणामेकत्रावस्थानस्य प्रतीतेः, प्रवाहतोऽनादिस्वरूपाया अपि त्रिपद्यास्तत्तद्व्यक्तिस्वरूपात्मना तत्तत्सर्वज्ञप्रभवत्वं सम्भवत्येव, न च व्यक्तितोपि तस्या नित्यत्वं, भाषावर्गणाविशेषप्रभववर्णविशेषानुपूर्वीविशेषलक्षणायास्तस्या नित्यत्वासम्भवात् , अत एव वेदप्रामाण्योपपत्तये वेदापौरुषेयत्वकल्पना मीमांसकानामपास्ता वेदितव्या, वर्णानां भाषावर्गणाप्रभवत्वेनानित्यत्वव्यवस्थितौ तत्समुदायविशेषलक्षणस्य पदस्य पदसमुदायविशेषलक्षणस्य च वाक्यस्य वाक्यसन्दर्भविशेषलक्षणस्य वेदस्य च नित्यत्वासम्भवेनापौरुषेयत्वस्यासम्भवात् , प्रतिनियतकण्ठादिस्थानजन्मनां वर्णानां पौरुषेयत्वे तत्समुदायविशेषलक्षणस्य वेदस्य नित्यत्वं न सम्भावनापथमवतरति, भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवाद्यन्यतमदोषवन्त एव सर्वे पुरुषा इति न पौरुषेयवचसि प्रामाण्यसम्भव इति नित्यनिर्दोषतया वेदस्य प्रामाण्योपपत्तयेऽपौरुषेयत्वाभ्युपगम इति कल्पनापि मीमांसकानां दुष्कल्पना एव, पुरुषान्तराणामुक्तान्यतमदोषसम्भवेऽपि दृष्टेष्टाविसंवादिवचनप्रणेतुर्भगवतस्तथाविधवचन-

तीर्थंकरोपदेशप्ररूपणेन वेदवाक्यानां मीमांसकाभिमतापौरुषेयत्वखण्डनम् ॥

लक्षणकार्यत एवाऽखिलदोषविमुक्तिलक्षणाऽऽप्तिमत्तया सिद्धस्य वचसि पौरुषेयत्वेऽपि प्रामाण्यसम्भवात्, अविनाभावनिमित्तस्य
कस्यचिदभावेपि पुरुषत्वस्योक्तदोषान्यतमवत्त्वेन व्याप्त्यभ्युपगमे तस्य वेदज्ञत्वाभावेन रथ्यापुरुषादौ व्याप्तेः सम्भवेन ततो
जैमिन्यादौ वेदज्ञत्वाभावस्यापि सिद्धिः स्यात्, कर्त्रस्मरणतो वेदस्यापौरुषेयत्वं तु 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इत्येवं कर्तृप्रतिपादक-
वेदवचसि जाग्रति वक्तुमशक्यम्, वेदाध्ययनत्वेन सर्ववेदाध्ययनस्य गुर्वध्ययनपूर्वकत्वसाधनतोऽपौरुषेयत्वसाधनमपि न युक्तम्
तथा सति महाभारताद्यध्ययनत्वेन सर्वमहाभारताद्यध्ययनस्यापि गुर्वध्ययनपूर्वकत्वतो महाभारतादेरप्यपौरुषेयत्वं प्रसज्येत, 'एवं
हुंफट् वषट् वौषट्' इत्यादिशब्दघटितत्वादिहेतुतोऽप्यप्रयोजकान्न वेदस्यापौरुषेयत्वसि] द्धि-रित्यार्हतमतानुयायिनो वय-
मालोचयामः। स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाबलाद्वर्णानां नित्यत्वमिति तु न युक्तम्। उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार इत्या-
द्याकारकोत्पादविनाशादिरूपवैधर्म्यज्ञानकालोत्पत्तिकायाः प्रत्यभिज्ञायास्तज्जातीयाभेदविषयकत्वात्। न च पूर्वाऽपरकालीन-
व्यक्त्याभेदविषयकप्रत्यभिज्ञाकालोत्पत्तिकाया उत्पादादिप्रतीतेरेव परम्परया वायुसंयोगाद्युत्पादादिविषयत्वमस्त्विति वाच्यम्।
साक्षादेव गकारादावुत्पादादिप्रतीतेः। न च तस्या भ्रमत्वम्, उत्पत्तेः स्वत्वगर्भत्वेनैकोत्पत्तेरन्यत्रारोपायोगात्। न च
श्यामो विनष्टो रक्त उत्पन्न इति ज्ञानकाले स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञावदत्रापि सा स्यादिति वाच्यम्, तत्र रक्तत्वादिवि-
शिष्टाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणसमयसम्बन्धादिरूपाया विशिष्टोत्पत्तेः शुद्धव्यक्त्यभेदाविरोधित्वात्, इह तु शुद्धस्यैव
गकारादेरुत्पादादिधीरिति विशेषात्। तत्तत्पर्यायविशिष्टस्यैवोत्पत्तेः शुद्धस्य द्रव्यस्य कुत्रापि नोत्पत्तिरिति तु द्रव्यास्ति-
कमतं घटादावतिप्रसङ्गेन पर्यायात्यन्तातिरिक्तद्रव्ये मानाभावेन च निर्लोठनीयम्। किञ्च तारमन्दशुकसारिकाप्रभवादि-

सर्वज्ञगदितागमस्यैव प्रामाणिकत्वप्रसङ्गे मीमांसकाभिमतवेदापौरुषेयत्ववादनिरासः ॥

भेदेन ककारादिनानात्वं परेणाप्यभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा शुकीयत्वादिभानानुपपत्तेस्तारान्मन्दोऽन्य इत्याद्यनुपपत्तेश्च। तत्रापि चाभेदप्रत्यभिज्ञादर्शनात्तस्या भ्रमत्वमावश्यकम्। न च तारत्वादिकं वायुधर्म एव, तथासति कत्वादेरपि तथात्वापत्तौ वर्णैक्यप्रसङ्गात्। एतेन 'साक्षादविरोधिन उत्पादादेर्व्यावर्त्तकत्वेनागृहीतत्वात्तद्बुद्धेरविरोधित्वान्नित्येऽपि स्वत्वघटितसखण्डोत्पादज्ञानेऽपि न व्यक्त्यभेदप्रत्ययविरोध' इत्यपास्तमितिदिग्। किं चागमस्यापौरुषेयत्वे वक्तृदोषव्यावृत्त्याऽप्रामाण्यमिव वक्तृगुणव्यावृत्त्या प्रामाण्यमपि निवर्तेतेत्यनुभयरूपता स्यात् ॥

एतेन 'लोकवेदसाधारणव्युत्पत्तिबलादन्विताभिधानसिद्धौ वेदस्यापौरुषेयतया वक्तृज्ञानानुमानानवकाशात्तत्संसर्गे शब्दस्यैव स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यम्, लोके तु, 'अयं वक्ता, स्वप्रयुक्तयथार्थज्ञानवान्, भ्रमाद्यजन्यवाक्यार्थज्ञानजन्यवाक्यप्रयोक्तृत्वाद्,' इत्यनुमानाद्वक्तृज्ञानोपसर्जनतयोत्तरकालम्, 'एते पदार्था, मिथःसंसृष्टा, वक्तृयथार्थज्ञानविषयत्वाद्,' इत्यनुमानात् स्वातन्त्र्येण वा वाक्यार्थसिद्धेरन्विताभिधानबलायातेऽपि प्रतिपादकत्वेऽनुवादकतामात्रं वाक्यस्य'इति प्राभाकरमतं निरस्तम्। वेदस्थले निर्णीतशाब्दधीजननसामर्थ्यादाकाङ्क्षादिज्ञानमध्रीचीनशब्दाल्लोकस्थलेऽपिप्रागर्थनिश्चयेऽनुमानस्यैवानुवादकत्वात्। लिङ्गस्य शीघ्रोपस्थितिकत्वेऽपि व्याप्तिस्मृतिविलम्बेनानुमानस्य शब्दापेक्षया विलम्बितत्वात्। न चाप्तोक्तत्वनिश्चयस्य लोकस्थले हेतुत्वात्तदनुमानत एवार्थसिद्धेर्लौकिकस्यानुवादकतेति युक्तं। वेदजन्यशाब्दबोधे त्वन्मते व्यभिचारेण शाब्दबोधसामान्ये वेदानुकारेण पद्य(ठ्य)माने मन्वादिवाक्ये वेदत्वभ्रमवतो गौडमीमांसकस्य तद्वाक्यजबोधे व्यभिचारेण लौकिकवाक्यजन्ये च तस्य हेतुताया वक्तुमशक्यत्वात्। न च शाब्दबोधसामान्यविरोधिन्या अनाप्तोक्तत्वशङ्काया व्युदासायाप्तोक्तत्वनिश्चयो लौकिकस्थले

तन्त्रं, वेदे तु नित्यनिर्दोषतयैव तच्छङ्काव्युदास इत्यपि साम्प्रतं, आप्तोक्तत्वस्य पूर्वं दुर्ग्रहत्वादनाप्तोक्तत्वशङ्काया ग्राह्यसंशयपर्यवसायिन्या विरोधित्वे मानाभावाच्च, प्रामाण्ये तूभयत्राप्तोक्तत्वमेव तन्त्रमितिकिमर्द्धजरतीयाश्रयणेन। किञ्च वेदस्थले नित्यनिर्दोषत्वज्ञानावश्यकत्वेऽनुवादकत्वं दुर्वारं, 'अमी वैदिका अर्था, मिथःसंसृष्टा, व्यक्तपुंदूषणाशङ्कैः पदैः स्मारितत्वाद्' इत्यनुमानात्संसर्गनिर्णयस्य प्रागेव सम्भवादिति गतं वेदप्रामाण्येनेति न किञ्चिदेतत् ॥ 'सर्वत्रानुमानमुद्रयैव शब्दः प्रमाणम्' इतिवैशेषिकमतमपि निर्युक्तिकत्वेन न श्रद्धेयम्। एते पदार्था, मिथःसंसृष्टा एवेति साध्ये पदस्मारितत्वमात्रस्यानाप्तोक्तपदस्मारिते व्यभिचारात्, आप्तोक्तत्वविशेषणे चासिद्धेः, प्रकृतवाक्यार्थयथार्थज्ञानवत्त्वस्याप्तत्वस्य दुर्ग्रहत्वात्। संसर्गयोग्यत्वमात्रे च साध्ये संसर्गवत्त्वानिश्चयादेकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गवत्त्वरूपाया योग्यताया हेतौ निवेशे तद्घटितहेतोर्निश्चये सिद्धसाधनादनिश्चये हेत्वनिश्चयात्, पदानां संसर्गप्रमापूर्वकत्वेऽपि साध्येऽनासक्ते व्यभिचारात्, आसत्तेरपि निवेशे 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यत्र राज्ञः पुरुष इति भागे तात्पर्यविषयसंसर्गप्रमापूर्वकत्वाभावेन व्यभिचारात्। अथ तात्पर्यरूपाकाङ्क्षा हेतुप्रविष्टेति न व्यभिचारः। न च कर्मत्वादौ घटादिसंसर्गसिद्धावपि कर्मत्वादौ निरूपितत्वसम्बन्धेन घटादिप्रकारकबोधासिद्धिरिति वाच्यम्। 'कर्मत्वादिकं, घटादिमत्, घटाकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वाद्,' इत्यनुमानस्याऽपि सम्भवात्, शाब्दात्मकविलक्षणानुमितौ व्युत्पत्तेरपि तन्त्रत्वाच्च न घटादिविशेष्यककर्मत्वादिविशेषणिकाया अप्यनुमितेः प्रसङ्गः, एतेन 'प्रत्यक्षादिना सिद्धावपि विनेच्छां शाब्दबोधानुदयः स्याद्,' इत्यपास्तम्, पक्षताया लिङ्गभेदभिन्नत्वेन तच्छाब्दलिङ्गकानुमितौ तदहेतुत्वसम्भवादितिचेत्, न, नानुमितं न साक्षात्कृतं किन्त्वाप्तमुखाच्छ्रुतमिति सार्वजनीनप्रमितेः शाब्दप्रमितावनुमितित्वाभावसिद्धेः ॥

किञ्च शृणोमि शाब्दयामीत्याद्युल्लेखप्रयोजकत्वादुभयवादिसिद्धायाः शाब्दत्वजातेरावश्यकत्वे तदाश्रयव्यक्तावनुमितित्वक-
ल्पनं व्याप्तिस्मृत्यादिकल्पनं च गौरवान्मानाभावाच्चासिद्धम्। वस्तुतः शाब्दत्वस्यानुमितित्वव्याप्यत्वे शाब्दयामीत्युल्लेखप्रयो-
जकत्वमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायप्रतिबन्धकत्वं च कल्पनीयमिति गौरवम्। न च शाब्दे विधेयताविशेषाभावादेवानुमिनोमी-
त्यनुव्यवसायाभावः, तद्धर्मावच्छिन्नविधेयताकत्वस्य तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानमात्रप्रयोज्यत्वात्, एवञ्च 'शाब्दबोधा-
व्यवहितपूर्वक्षणः, परामर्शतदभावान्यतरवान्, क्षणत्वाद्' इत्याद्यनुमितेरन्यत्रक्लृप्ताभावविषयत्वमेव युक्तम्। यत्तु "शाब्दानु-
मित्योः पार्थक्ये उभयसामग्रीसमाहारे युगपदुभयोत्पत्तिवारणाय शाब्दत्वाद्यवच्छिन्ने शाब्देतरसामग्रीत्वादिना प्रतिबन्धक-
त्वमिति लाघवं, शाब्दस्यानुमितित्वे च वह्न्यादेरशाब्दानुमितेरपरस्य शाब्दानुमितेश्चैकदोत्पत्तिवारणाय शाब्दानुमिति-
त्वाद्यवच्छिन्ने शाब्देतरानुमितिसामग्रीत्वादिना प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयमिति गौरवम्। किञ्च वह्निव्याप्यसामान्याभावविशि-
ष्टविशेष्यको वह्निशाब्दबोधो न स्यात्तद्विशिष्टे वह्निव्याप्यबोधासम्भवात्॥ अपि च "घटात् पृथगित्यादौ शाब्दसमानाकारानु-
मितिरेकदेशान्वये दुर्घटा, पृथक्त्वं पक्षीकृत्यानुमितौ तद्वतोऽभानापत्तेः, तद्वतः पक्षत्वे च तत्रैव पञ्चम्यर्थभानापत्तेः" इति
भट्टाचार्यैरुक्तं, तन्नातिमनोहरम्। अनतिरेकेऽप्यनुमितित्वव्याप्यशाब्दत्वस्यैव प्रतिबध्यप्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ निवेशे-
नानुमितित्वप्रवेशप्रयुक्तगौरवाभावात्, वह्निव्याप्यसामान्याभावविशिष्टविशेष्यकवह्निशाब्दबोधाभावस्य चेष्टत्वात्, वह्नेरपि वह्नि-
व्याप्यत्वेन तत्सामान्याभाववति वह्नेरन्वयस्यायोग्यत्वात्, इष्टत्वे वा व्युत्पत्तिविशेषस्योत्तेजकत्वकल्पनेन दोषाभावात्, घटात्
पृथगित्यादावेकदेशानन्वयवादिमत इव पृथक्त्ववतः पक्षत्वे परम्परया तत्र पञ्चम्यर्थमानस्येष्टत्वात्। यदपि 'शाब्दानुमित्योर्भेद-

सर्वज्ञगदि-
गमस्यैव
प्रामाणिक-
त्वप्रसङ्गे
भट्टाचार्यो-
क्तविचार-
खंडनं प्र-
सङ्गतः स-
र्वज्ञसिद्धयु-
पक्रमश्च॥

कल्पने शाब्दानुमित्यन्यतरत्वकल्पने गौरवमिति,' तन्न, एकजात्येऽपि शाब्दानुमितेर्भेदकल्पने गौरवादित्यन्यत्र विस्तरः ॥

अपि च शाब्दत्वस्यानुमितित्वव्याप्यत्वेऽनुमितित्वमपि मानसत्वव्याप्यमेवास्त्विति गतमनुमानेनापि, विलक्षणानुभवबलाद्यानुमानमिव शब्दोऽपि पृथगेव प्रमाणमिति किमतिपल्लवेन, तत्प्रामाण्ये चाप्तोक्ततत्वं नियामकमिति युक्तं। यथोक्तोपदेशेनाप्तत्वपरीक्षणं भगवतः। अथ सर्वविद इति कुतः, यथोक्तोपदेशस्यास्मदादिष्वपि सम्भवेन सर्वज्ञत्वाव्याप्यत्वात्। न च स्वातन्त्र्येणोक्तोपदेशस्याव्यभिचारित्वम्। संसारस्यानादित्वेनोक्तोपदेशस्य स्वातन्त्र्यासिद्धेः। न हि पाणिन्यादेः पूर्वं व्याकरणादीनि नान्येन प्रणीतानि तद्वदत्रापि भाव्यमिति चेत्। न, प्रामाणिकार्थविषयस्य तत्तत्काले स्वतन्त्रोपदेशस्यानाश्रयणे प्रवृत्तावनाश्वासात्, प्रवाहानादितायाः "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" "भूतपरिणतिमात्रं चैतन्यम्" इत्यादिवचनेष्वपि सम्भवात् ॥

तस्मात् स्वतन्त्रोक्तोपदेशस्य सर्वज्ञत्वव्याप्यत्वान्न किञ्चिद्बाधकम्। किञ्च 'आत्मादृष्टादिकं, कस्यचित्प्रत्यक्षं, अनुमेयत्वाद्धूमध्वजवद्', इत्याद्यनुमानादपि सर्वज्ञसिद्धिः। न चानुकूलतर्काभावादप्रयोजकत्वं, निरुपाधिसहचारस्यैवानुकूलतर्कत्वात्। न च प्रत्यक्षत्वस्येन्द्रियजत्वव्याप्यत्वादतीन्द्रियप्रत्यक्षं कथं भगवत इति वाच्यम्। कामादिभावनाजनितसंवेदनस्य स्वसंवेदनरूपस्य च विशदज्ञानस्येन्द्रियासमुत्थस्याऽपि प्रत्यक्षत्वेनेन्द्रियजन्यतायाः प्रत्यक्षत्वाव्यापकत्वात्। अथातीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सर्वार्थविषयत्वमनुपपन्नम्। तथा हि—देशान्तरे कालान्तरे च यद्रूपं तदिदानीन्तनचाक्षुषसजातीयप्रत्यक्षग्राह्यं रूपत्वादिदानीन्तनरूपवत् ॥ तदुक्तं, "यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु, यज्जातीयार्थदर्शनम्॥ दृष्टं सम्प्रति लोकस्य, तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥१॥" न च गृध्रादिभिर्व्यभिचारः, तेषामपि स्वार्थानतिक्रमेण प्रवृत्तेः। आह च—" यत्राप्यतिशयो दृष्टः, स स्वार्थानतिलङ्घ-

सविवरणम्॥
प्रसङ्गतः सर्वज्ञसिद्धिः तत्र च मीमांसकाद्युक्तदोषनिवारणम्॥

॥ ४ ॥

नात् ॥ दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्या–न्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ १ ॥ येऽपि सातिशया दृष्टाः, प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ॥ स्तोकस्तोकान्तरत्वेन, न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥ प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मा–नर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् ॥ स्वजातीरनतिक्राम–न्नतिशेते पराञ्नरान् ॥ ३ ॥ एकशास्त्रविचारेषु, दृश्यतेऽतिशयो महान् ॥ न तु शास्त्रान्तरज्ञानं, तावन्मात्रेण लभ्यते ॥ ४ ॥ ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं, बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ॥ प्रकृष्यते न नक्षत्र–तिथिग्रहणनिर्णये ॥५॥ ज्योतिर्विच्च प्रगल्भोऽपि, चन्द्रार्कग्रहणादिषु ॥ न भवत्यादिशब्दानां, साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥ ६ ॥ तथा वेदेतिहासादि–ज्ञानातिशयवानपि ॥ न स्वर्गदेवताऽदृष्ट–प्रत्यक्षीकरणक्षमः ॥ ७ ॥ दशहस्तान्तरं व्योम्नो, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ॥ न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥८॥ तस्मादतिशयज्ञानै–रतिदूरगतैरपि ॥ किञ्चिदेवाधिकं ज्ञातुं, शक्यते न त्वतीन्द्रियम् ॥९॥" तस्मादेषाऽनुमानबाधिता प्रतिज्ञेति चेत् । न । ज्ञानस्वरूपस्यात्मनः सर्वदा सर्वार्थसन्निहितत्वेन विनैवेन्द्रियव्यापारं वस्तुपरिच्छेदापत्तिवारणाय तावदावरणमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, आवरणतिरस्कृतस्य हि जीवद्रव्यस्य येष्वेवानुपहतचक्षुरादिप्रदेशेषु तत्क्षयोपशमस्तद्द्वारेणैव विज्ञानप्रवृत्तिः, अस्थगितगवाक्षकल्पानि हीन्द्रियाण्यात्मनो ज्ञानोत्पत्तावुपकरणमात्रमित्यनतिप्रसङ्गात् । सर्वथावरणापगमे च न काचिच्चक्षुराद्यपेक्षेत्येकदैव सर्वार्थग्रहणस्यानिवार्यत्वेन 'यज्जातीयैः' इत्याद्युक्तेः फल्गुप्रायत्वात् । 'यत्राप्यतिशय' इत्यादिकमपि कुचोद्यमिन्द्रियव्यापारनिरपेक्षविज्ञानेऽलग्नकमेव । तदुक्तम्—

" इन्द्रियान्तरविज्ञानं, नेन्द्रियान्तरवस्तुनः ॥ ग्राहकं चेति यो दोषः, सोऽतीन्द्रियदृशः कुतः ॥ १ ॥" इति ॥

'येऽपि सातिशया' इत्यादिकमप्यसङ्गतं । कर्मापगमतारतम्यादुक्ततारतम्यसम्भवेऽपि सर्वथा तदपगमे यावज्ज्ञेयविष-

मीमांसकखण्डने आप्तोक्ताऽऽगमस्य प्रमाणत्वस्थापनप्रसङ्गे सर्वज्ञतासिद्धिस्थापनम् ॥

यताया विज्ञानस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्, सर्वथा कर्मापगम एव किं प्रमाणमिति चेत्, अनुमानमेव, यत्—समन्तभद्रः—
"दोषावरणयोर्हानि-र्निःशेषास्त्यतिशायनात् ॥ क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः ॥१॥" इति॥ हेतवश्च यथा रत्नवि-
शुद्धौ क्षारमृत्पुटपाकादयस्तथात्मशुद्धौ ज्ञानदर्शनचारित्राणीति सर्वमनवद्यम् ॥ "योगजधर्मप्रत्यासत्त्या सर्वविषयकं योगिज्ञानम्"
इति नैयायिकाद्युक्तं तु न श्रद्धेयम् । स्वतन्त्रकारणस्य योगजधर्मस्य परामर्शादेरिव मनसः प्रत्यासत्तित्वे मानाभावात्,
अन्यथा चक्षुरादावपि सा प्रत्यासत्तिः किं न स्यात्, योगिचाक्षुशादावपि तज्जन्यतावच्छेदकांशिकालौकिकविषयताया वक्तुं
शक्यत्वात् । निदिध्यासनादिजन्यतावच्छेदकतत्त्वसाक्षात्कारत्वजातेर्मानसत्वव्याप्यत्वकल्पनमेव युक्तमिति चेत्, न, निदि-
ध्यासनादेः कर्मान्तरस्येव विहितत्वेन दोषक्षयरूपसत्त्वशुद्धावेवोपयोगात्तज्जन्यतावच्छेदकतत्त्वसाक्षात्कारत्वजातेर्मानसावृत्ति-
ताया एव युक्तत्वात्, अन्यथैकतरोत्पत्तिकाले तदन्योत्पत्तिवारणाय तत्त्वसाक्षात्काराख्यमानसे तदितरमानसे च हेत्वन्तरा-
दिकल्पने महागौरवात्, योगिमानसमात्रे तत्त्वसाक्षात्कारत्वाभ्युपगमे च भोगत्वादिना साङ्कर्येण तस्य जातित्वासिद्धेः ॥
किञ्चैवं घटादिचाक्षुषाद्यनुव्यवसायेऽपि योगिनस्तत्त्वज्ञानत्वापत्तिरिति किमपराद्धं चाक्षुषादिस्थलीयेनापि ज्ञानेन ॥

तस्मादिन्द्रियातीतं दोषक्षयमात्रमपेक्ष्यात्मजनितत्वेन प्रत्यक्षमेव केवलज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् ॥ इन्द्रियजन्यतावच्छे-
दकं च साक्षात्कारनिष्ठं वैजात्यमीश्वरज्ञानव्यावृत्तं परेणाप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । जन्यज्ञानत्वस्य तथात्वे जन्यत्वस्य का-
लिकेन घटत्वपटत्वादिवत्स्वरूपस्य प्रवेशेऽननुगमात् । समवायकालिकोभयसम्बन्धेन ज्ञानत्ववत्त्वस्यैव तथात्वे सम्बन्धनिष्ठ-
व्यासज्यवृत्त्यवच्छेदकतावच्छेदकताकल्पने गौरवात्, तच्चास्माभिः केवलादिव्यावृत्तं स्वीकर्तव्यमिति न किञ्चिद्बाधकम् ।

मत्रिव-
रणम् ॥
सर्वज्ञत्व-
स्थापनप्रस-
ङ्गे नैयायि-
काभिमत-
योगिज्ञान-
स्य सर्ववि-
षयकत्वा-
पाकरणम्,
सौगतमत-
खण्डनोप-
क्रमश्च ॥
॥ ५ ॥

अथेप्सितकतिपयार्थपरिज्ञानेनैवेष्टसिद्धौ किं सर्वज्ञज्ञानस्य कीटसंख्याद्यनभिमतमर्वविषयतयेति चेत्, न। न हि प्रयोजनक्षतिभिया मामग्री कार्यं नार्जयति येन सर्वविषयज्ञानावरणक्षये मर्वविषयज्ञानं त्वदुक्तदिशा नोत्पद्येत। अनुवृत्तिव्यावृत्तिद्वारैकमेव च सर्वात्मकमिति याथात्म्येनैकज्ञत्वेऽवर्जनीयसन्निधिकमेव सर्वज्ञत्वमिति कस्तत्र प्रद्वेषः। तथा च पारमर्षं 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' त्ति 'प्रतिनियतविषयतानियामकक्षयोपशमाभावात्सर्वविषयकत्वं केवलज्ञाने प्रामाणिकम्,' इत्यपि कश्चित्। न चानन्तवस्तुविज्ञाने वस्तुपरिसमाप्तिप्रसङ्गः। अस्मदादिविकल्पज्ञाने रात्रिन्दिवादीनामनाद्यनन्तरूपतापरिच्छेदेऽपि तदपरिसमाप्तिवद्भगवतोऽनाद्यन्तवस्तुपरिच्छेदेऽपि तदपरिसमाप्तेरविरोधात्। रसास्वादप्रसङ्गादिकं त्वकरणाधीनतया न नोद्यमिति सिद्धः सर्वज्ञः॥

अन्यव्यावृत्तिश्च तस्योक्तोपदेशेनैव, "उपदिशन्ति हि वीतराग एव समुत्पन्नपरमज्ञानः प्रथममेव गणधराणामुत्पादादिपदत्रयीं न त्वन्यः कश्चिदिति॥" एतद्विशेषणद्वारेणैव चोत्पादादीनां वस्तुलक्षणभूतानामिहाभिधेयत्वं, विषयशुद्धिमोक्षयोः साक्षात्परम्पराप्रयोजनत्वं, विषयविषयिभावस्योपायोपेयभावस्य वा सम्बन्धत्वं, प्रयोजनकामस्याधिकारित्वं च सूचितम्। उत्पादव्ययध्रौव्याणि च न प्रत्येकं वस्तुनो लक्षणं, किन्तु समुदायेन। ननु लक्षणं पररूपव्यावर्तनक्षमोऽसाधारणो धर्मः, न चात्र वस्तुव्यतिरिक्तं व्यावर्तनीयमस्तीति कथमेषां लक्षणीयत्वमिति चेत्, न, विकल्पसिद्धस्य परलक्षणलक्षितस्य वस्तुन एवाश्रयणेन परव्यवहारप्रवृत्तेः। अन्यथा 'शक्तिर्हि भावलक्षणम्' इत्यादिकं परेऽपि कथं प्रतिपादयितुमुत्सहेरन्नित्यभिप्रेत्याह—

यदुत्पादव्ययध्रौव्य-योगितां न बिभर्ति वै॥ तादृशं शशशृङ्गादि-रूपमेव परं यदि॥ २॥

विनिश्चितं शशशृङ्गादिना रूप्यते इति शशशृङ्गादिरूपमसद्घटितमित्यर्थः। तथा च जीवादिकं वस्तुत्वेन व्यवहर्तव्यं,

केवलज्ञानस्यानन्तवस्तुविषयत्वे वस्तुपरिसमाप्त्यापत्तिनिवारणं उत्पादादियोगित्वस्य सत्त्वलक्षणत्वव्यवस्थापनम्॥

उत्पादव्ययध्रौव्यप्रतियोगित्वात्, 'यद्वस्तुत्वेन न व्यवह्रियते न तदुत्पादव्ययध्रौव्यप्रतियोगि' यथा परलक्षणलक्षितमिति विकल्पसिद्धं दृष्टान्तमादाय व्यतिरेकिणि तात्पर्यम् । वस्तुतो विकल्पस्याहार्यभ्रमरूपस्य न वस्तुरूपदृष्टान्तसाधकत्वम् । न चाऽवस्तुनि वस्तुधर्मदृष्टान्तत्वसम्भवः । अत एव 'असतो णत्थि णिसेहो' इत्यादि भाष्यग्रन्थेनासतो निषेधोऽपि प्रत्युक्तः, वस्तुत्वनियतप्रतियोगिताया अवस्तुन्यभावात्, शशविषाणं नास्तीत्यादौ तु विषाणे शशीयत्वं नास्ति, शशीयत्वेन वा विषाणं नास्तीत्यादिरेवार्थ इति नायं पन्थाः । किन्तु प्रकृतलक्षणं नेतरव्यावर्तकं किन्तु विभक्तव्यवहारजनकमितीदमेव वस्तुलक्षणं नापरमित्यत्र तात्पर्यम् । ननु कथमेतत् 'सत्त्वैव वस्तुलक्षणम्' इति नैयायिकमतस्य जागरूकत्वादितिचेत्, न, सत्तासामान्यस्य शिरोमणिभट्टाचार्यैरेव निराकृतत्वात्, विद्यमानत्वस्यैव सच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वसम्भवात्, घटः सन्नित्यादिप्रतीतावपि विद्यमानत्वस्यैव प्रकारत्वसम्भवाच्च । अस्तु वा स्वरूपसत्त्वमेव तद्विषयः, 'जातिः सती, अभावः सन्' इत्यादिप्रतीताविव समवायेन सत्ताप्रकारकत्वस्य तत्राप्यसिद्धेः ॥ "सामान्यं द्विविधं परमपरं च, तत्र परं सत्ता" इति वैशेषिकविभागस्तु निर्युक्तिक एवेति । प्रतियोगितया ध्वंसं प्रति तादात्म्येन सत्त्वेन हेतुत्वमिति ध्वंसजनकतावच्छेदकतयैव सत्त्वसिद्धिः । न च प्रागभावध्वंसे व्यभिचारः, न च प्रतियोगिरूपस्य तद्ध्वंसस्य भावव्यावृत्तध्वंसत्वरूपकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात्, एवं प्रतियोगिध्वंसरूपस्य च प्रतियोगितासम्बन्धेन प्रागभावे सत्त्वेऽपि सविषयातिरिक्तपदार्थस्याव्यवहितपूर्ववर्तिवस्तुन्येवोत्पत्तिनियम इति तत्र तेन सम्बन्धेनोत्पत्त्यभावान्न व्यभिचारः, भावव्यावृत्तातिरिक्तध्वंसत्वे मानाभावात्, प्रागभावध्वंसस्यातिरिक्तस्याभ्युपगमेन प्रतियोगिस्वरूपत्वासिद्धेश्चेति वाच्यम्, प्रागभावावृत्तिप्रतियोगितायाः कार्यतावच्छेदकत्वात्, प्रागभावे मानाभावाद्वा । न चासम-

वायिकारणनाशादेः स्वप्रतियोगिजन्यत्वादिसम्बन्धेनाऽव्यवहितपूर्वकाले प्रतियोगिनिष्ठतया द्रव्यादिनाशकत्वादेवातीतानागतद्रव्यादौ नाशापत्तिवारणसम्भवात्प्रतियोगिनाशयोः सामान्यकार्यकारणभावे मानाभावः, अव्यवहितपूर्वकालेऽतीतानागतव्यक्त्योरभावेन तत्र तदानीं स्वप्रतियोगिजन्यत्वादिसम्बन्धेनासमवायिकारणनाशाद्यसत्त्वादेवानतिप्रसङ्गात्, यदि च जन्यत्वस्याव्याप्यवृत्तित्वाभावान्नायं परिहार इति विभाव्यते, तथाप्यसमवायिकारणनाशादेर्नाशकतावच्छेदककोटौ स्वप्रतियोगिजन्यत्वकालिकविशेषणत्वोभयसम्बन्ध एव दीयताम्, अतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पनापेक्षया क्लृप्तकार्यकारणभावे कारणतावच्छेदकसम्बन्धकोटौ कालिकविशेषणतानिवेशस्यैव लघीयस्त्वादिति वाच्यम् । एवमतीतानागतव्यक्त्योर्नाशवारणाय संस्कारतज्जन्यस्मृत्योः क्रियातज्जन्यसंयोगयोः संयोगतज्जन्यविभागयोर्वेगतज्जन्यकर्मणोर्विभागतत्प्रयोज्यसंस्कारयोर्नाश्यनाशकभावेषु जातिनाशवारणाय समवायिनाशसमवेतनाशयोर्नाश्यनाशकभावेषु च बहुषु नाशकतावच्छेदकसम्बन्धकोटौ कालिकविशेषणत्वप्रवेशमपेक्ष्य प्रतियोगिध्वंसयोरतिरिक्तैककार्यकारणभावकल्पनाया एव लघीयस्त्वादिति चेत्, न, जन्यत्वजनकत्वयोर्व्याप्यवृत्तित्वेऽप्यतीतत्वादिदशायां तत्सम्बन्धेनासमवायिकारणनाशादेरव्याप्यवृत्तित्वाभ्युपगमेनैव निर्वाहे प्रतियोगिध्वंसयोः सामान्यकार्यकारणभावाकल्पनात्, नहि तदानीं सा व्यक्तिः स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेनासमवायिकारणनाशवतीतिप्रतीतिरस्ति, येन तदव्याप्यवृत्तित्वं दुरुपपादं स्यात् । प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रति कालिकसम्बन्धावच्छिन्नस्वप्रतियोग्यधिकरणत्वसम्बन्धेन सह वृत्तिपदार्थप्रतियोगिकनाशस्य हेतुत्वावश्यकत्वादेव नायं दोषः, अन्यथा तादात्म्येनातीतानागतव्यक्त्यवच्छेदेनाव्यवहितपूर्वकाले सतः सत्त्वस्य सुवचत्वेन प्रतियोगिनाशयोरुक्तहेतुहेतुमद्भावेनाप्यनिस्तारादित्यप्याहुः।

सत्त्वलक्षणप्रसङ्गे परवाद्यापादितदोषपरिहारः ॥

यत्तु द्रव्यत्वेन सत्त्वेन कार्यकारणभावात्समवायिकार्यतावच्छेदकतयैव सत्त्वसिद्धिः। जन्यत्वस्य गुरुत्वेन कालिकेन घटत्वादिमत्त्वमादायाऽविनिगमेन चातथात्वात्। न च सत्त्वस्य नित्यवृत्तित्वेन न कार्यतावच्छेदकत्वं, समवायकालिकोभयसम्बन्धेन तथात्वसम्भवात्, जन्यतावच्छेदकतानियामकसम्बन्धेन जन्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वस्यैव जन्यत्वव्यवहारनियामकत्वेन नित्ययोर्द्रव्यगुणयोः सत्तावत्त्वेन तादृशव्यवहाराभावात्। न चासमवायिकारणस्य विशिष्य हेतुत्वेनानतिप्रसङ्गे किमनेन सामान्यकार्यकारणभावेनेति वाच्यम्। एवं सति समवायेन नीलादौ स्वाश्रयसमवेतत्वेन नीलादेर्हेतुत्वेनावयवगुणादौ नीलाद्यापत्त्यवारणात्। न च समवेतत्वं समवायप्रतियोगित्वं, तच्च प्रतियोगिभेदेन भिन्नमिति द्रव्यनिष्ठन्तदादायानतिप्रसङ्गः, समवायिद्रव्यव्यक्तिभेदादेव तद्भेदात्, प्रतियोगिभेदेन भेदे गौरवात्। न च स्वाश्रयसमवेतत्वविशिष्टद्रव्यत्वं सम्बन्धः, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादनन्तकारणतायां सम्बन्धमध्ये द्रव्यत्वप्रवेशापेक्षया सत्त्वेन द्रव्यत्वेनैककार्यकारणभावकल्पनस्यैव ज्यायस्त्वात्। न च तथापि तत्कृतक्रियाधीनविभागसंयोगोत्पत्तेः पूर्वोत्तरदेशनियमान्यथानुपपत्त्या तत्तद्द्रव्यव्यक्तित्वेन हेतुत्वावश्यकतया यावद्विशेषसामग्रीबाधेनावयवगुणादौ नीलाद्यनुत्पादसम्भवे द्रव्यत्वेन सत्त्वेन सामान्यतः कार्यकारणभावे मानाभाव इति वाच्यम्। तथापि विनश्यदवस्थद्रव्येण स्वनाशोत्पत्तिक्षणे गुणकर्मणोरुत्पत्तिवारणाय कार्यसहवर्तितया सत्त्वावच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वेन हेतुत्वावश्यकत्वादिति चेत् ?, न, इत्थमपि जन्यसत्त्वसिद्धावप्याकाशादिसाधारणसत्त्वासिद्धेः। किञ्चैवं जन्यत्वमखण्डोपाधिरूपमेव किं न सिद्ध्येत्। जात्यपेक्षया तत्कल्पने गौरवस्य सम्बन्धगौरवमूलत्वात्तस्य च समवायस्वरूपसम्बन्धयोरैक्याविशेषेण निरासात्। अपि च व्यावृत्तत्ववत्कथञ्चिदनुगतत्वं व्यक्तिधर्म एव कल्प्यतां ' धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनैव

लघीयसी' इति न्यायादिति किं वस्त्वन्तरसत्तापरिकल्पनया, अनुगतप्रत्ययस्य निमित्तभूताभिः समानाकारपरिणताभिर्व्यक्तिभिरेव निर्वाहात्, तत्कर्मतापन्नस्य चातिरिक्तानुगतस्य स्वप्नेऽप्यननुभवात्। किञ्च सामान्यस्य व्यक्त्यभेदे सामान्यरूपताक्षतिः, भेदे च सम्बन्धानिरूपणं, समवायस्यैकत्वेनातिप्रसञ्जकत्वात्, समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारताया अपि भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपत्वात्, कथञ्चिदनुगतव्यक्तिस्वरूपकल्पनाया एव ज्यायस्त्वादिति दिग्॥ अस्तु तर्हि "शक्तिर्भावलक्षणं," तदाह धर्मकीर्तिः—"शक्तिर्हि भावलक्षणं, सर्वशक्तिविरहोऽभावलक्षणम्" इति॥ शक्तिश्चार्थक्रियाकारित्वम्। तच्च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्तं, क्रमयौगपद्यं च नित्येभ्यो व्यावर्तमानं सत्त्वमादाय क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते। तथा हि—नित्यं न क्रमेण कार्यं कुर्यात्। सकलसामर्थ्योपेतस्यैकक्षण एव समस्तकार्यकरणप्रसङ्गात्, समर्थस्य सहकार्यपेक्षायोगात्। नापि यौगपद्येन, प्रथमक्षण एव कृतकृत्यत्वेन द्वितीयादिक्षणे कर्तव्याभावेन व्योमकुसुमतुल्यताप्रसङ्गादिति। तस्मात् क्षणिकेष्वेवार्थक्रियाकारित्वमिति।" तदेतदनवद्यम्। एकान्तनित्यादिवैकान्तक्षणिकाद् व्यावर्तमानस्यार्थक्रियाकारित्वस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्येव वस्तुन्यवस्थितेः। तथाहि, क्षणिकं वस्तु देशक्रमेण कालक्रमेण वा न कार्यं कुर्याद्देशान्तरे कालान्तरे वा तस्यैव ध्वंसात्, अन्यथा क्षणिकत्वक्षतिः। किञ्च क्रमयौगपद्ये कार्यान्तरासाहित्यसाहित्यलक्षणे ते च सामग्रीरूपं कारणमाश्रित्य न सम्भवतः, एकस्या द्वितीयकार्यजनकत्वाभावादेकमात्रजनकत्वाच्च, समग्ररूपायाः सामग्र्या एकमात्रजनकत्वमपि च स्वभावभेदं विना तत्त्वतो न घटते इति न 'शक्तिर्भावलक्षणम्'। अर्थक्रियैकत्वेऽपि समग्राणां भेदात् सहकारिकारणमाश्रित्यापि सा न सम्भवति, तत्र स्वस्वकार्ये उपादानभावः परस्परकार्ये च सहकारिभाव इत्यभ्युपगमस्य निरंशैकवस्तुवादे विचारासहत्वात्। न च रूपरसादौ

सत्त्वलक्षणप्रसङ्गे बौद्धोक्तशक्तिलक्षणस्यापाकरणम्॥

रूपादीनामेकस्वभावेन हेतुत्वेऽप्युपादानभेदादेव भेद इत्यपि युक्तम्, एवं ह्युपादानमात्रादेव कार्यसिद्धौ "सहकार्युच्छेदे मनस्कारो हि विज्ञानस्योपादानकारणं चक्षुस्तु स्वविषयज्ञानजननयोग्यस्य सहकारिकारणम्" इत्याद्यर्चटवचनस्यासामञ्जस्यप्रसङ्गात्, काल्पनिके च कारणानां स्वभावभेदे कार्याणामपि तथात्वापत्तिः । एतेन " पटादयोऽनेककार्यं कुर्वन्तो दृष्टा न च धर्मिरूपेण भिद्यन्त इत्येकक्रियायामिवानेकक्रियायामपि तद्भावभाविताया एव निबन्धनत्वादविरोधः, अनेककार्यक्रियास्वभावेऽन्यव्यावृत्त्याऽनेकशब्देनाभिधानेऽप्यात्मभेदायोगात्, एकस्यानेकक्रियानभ्युपगमे च योऽयं रूपरसगन्धस्पर्शविशेषाणां क्वचित्सहभावनियमः प्रमाणपरिदृष्टः स न स्यात्, भिन्ननिमित्तानां सहभावनियमायोगात् । तदेकधर्मिस्वभावतया तत्र सहभावनियम इति चेत्, न, एकस्यानेकस्वभावताया एव चिन्त्यत्वात्, तस्मादेकसामग्र्यधीनजन्मनामेव सहभावनियम इति स्वसन्तानक्षणमितरोपादानक्षणं च युगपदुपकुर्वतः कथमेकस्य नानेककार्यता, द्रव्यपर्यायाणां चैकस्वभावतामाचक्षाण एकस्यानेककार्यतां कथं प्रतिक्षिपेद्" इत्यादि परोक्तमपास्तम् । अनेककार्यकारित्वेन दृष्टानां पटादीनां धर्मिरूपेणाऽभेदेऽपि धर्मरूपेण भेदाद्वस्तुन उभयरूपत्वाद् गुणप्रधानभावेनैकैकव्यपदेशेऽप्येकानेकस्वभावानिवृत्तेः,किञ्चिद्धीन्द्रियादेः स्वोपादानाद्रूपं जातं, किञ्चिच्च विषयादेरिति कथं नानेकस्वभावता कारणस्य, स्वोपादानादेव कार्यरूपसिद्धौ च शेषकारणवैयर्थ्यम्, अविशिष्टादवर्जनीयतत्तद्धेतुसन्निधौ विशिष्टोत्पत्तिवादेऽप्ययमेव दोषो वैयर्थ्यं च सुगतदेशनायाः । तस्मादनेकक्रियायां तस्य तद्भावभावितापि चित्रस्वभावतामेव समर्थयति । न च भवन्मतेऽपि सहकारिणां चित्रस्वभावत्वे कार्याणामपि तथात्वापत्तिः, कारणानामपि परस्परस्वरूपमिश्रणया चित्रत्वादात्मभूतानेकधर्मयोगेन च तेषामिव कार्याणामपि चित्रतया इष्टत्वात्, घटो हि

मृत्पिण्डान्मृदात्मा कुलालव्यापारात्संस्थानात्मा सूत्राच्च चक्रादिविभक्तात्मेति, प्रधानं चोपादानकारणमेवेत्यपरकारणप्रयुक्ता विशेषा मृदमेवावलम्बन्ते सर्वकार्येष्वप्ययमेव न्यायः। एकस्य चात्मातिशयस्यानेककार्यहेतुता चित्रसामर्थ्याभ्यासं विनाऽनुपपन्नैव, अंशेनैकत्रोपयोगे कृतान्तव्याकोपात्, सर्वात्मना चोपयोगे कार्यैक्यापत्तेः, अन्यव्यावृत्त्यात्मना चानेकत्वं न कार्यवैचित्र्यनिर्वाहकं, भिन्ननिमित्तानां सहभावनियमोऽपि स्याद्वादनीत्या नानुपपन्नः, कथञ्चित्स्वभावभेदे तदेकधर्मिस्वभावतयैकत्र सहभावनियमोपपत्तेः, न हि रूपरसादिपरमाणवः पृथक्प्रतिभासन्ते, किन्त्वेकमेव तद्द्रव्यमनेकरूपानुविद्धमवभासत इति द्रव्यपर्यायाणां चैकस्वभावतामाचक्षाणाः स्याद्वादनीतिं न परित्यजन्तीति तदवष्टम्भेन परेण न क्षणिकेऽर्थक्रिया व्यवस्थापयितुं शक्येति नैतद्वस्तुलक्षणम्॥ "उपलब्धिः सत्ता, सैव वस्तुलक्षणम्" इत्यपि न न्यायानुपाति, यतः केयमुपलब्धिः, किं ज्ञानम्, उत ज्ञानविषयता, आद्येऽर्थावस्तुत्वप्रसङ्गः, न च विज्ञानवादिनः सिद्धसाध्यता, अर्थस्यापि विशददर्शनेनानुभूयमानत्वेन तन्मतस्यायौक्तिकत्वात्। स्वप्नवदपारमार्थिकत्वादर्थदर्शनं तदसाधकमिति चेत्, न, अपारमार्थिकत्वं ह्यर्थशून्यत्वमितीतरेतराश्रयात्, असति चार्थे कथमर्थो नास्तीति ब्रूयात्। परप्रसिद्ध्येति चेत्, तस्याः प्रमाणत्वेऽयुक्तोऽर्थप्रतिषेधः, अप्रमाणत्वे तु तदाश्रयणमन्याय्यम्, स्वप्नदृष्टान्तेनार्थनिषेधे च ज्ञानमपि कथं न निषेधेत्। ज्ञानरूपत्वावभासस्यार्थनिषेध इति चेत्, न, ज्ञानमात्ररूपताया अनवभासान्नीलाद्युल्लेखस्य चार्थं विनानुपपत्तेः। अनादिवासनानिमित्तत्वे च तस्य यथा तस्याः पृथग्भूताया विज्ञानेनाधिगमस्तथार्थस्यापि किं न स्यात्। एतेन 'नीलाद्याकारो ज्ञानात्मैव, जडस्य प्रकाशायोगाद्' इत्यप्यपास्तम्। जडे ज्ञानविषयताया ज्ञानत्वानापादकत्वात्, अन्यथा सुगतज्ञानविषयैरशेषज्ञानक्षणैः सुगतज्ञानरूपता प्रतिपन्नेत्येकमेव तदव-

सत्त्वलक्षणप्रसङ्गे उपलब्धिः सत्वेति बौद्धोक्तलक्षणस्य निरासः॥

शिष्येतेति सन्तानान्तरोच्छेदः । यदि चाचिन्त्यशक्त्या सुगतज्ञानत्वाप्रतिपत्तावपि क्षणान्तरादेस्तद्विषयता, तदा तयैवार्थ-
स्यापि कथं न ज्ञानविषयता । अथायमर्थः किमवयविरूपः, किं वा परमाणुरूपः ? । नाद्यः, अवयविनोऽवयवेभ्यो भेदाभे-
दविकल्पानुपपत्तेः, तथाहि, भेदस्तावदनुपलम्भबाधित एव, अवयवेभ्यो व्यतिरिच्यमानमूर्तेरवयविनः स्वप्नेऽप्यनुपलम्भात् ।
न च समानदेशत्वात् पृथगनुपलम्भः, तत्त्वेऽपि रूपरसयोर्वातातपयोश्च भेदेनोपलक्षणात् । न च दवीयसि देशेऽवयवाऽप्रति-
भासेऽप्यवयविनः प्रतिभासात्तस्यावयवभिन्नत्वं नाप्रातीतिकमिति वाच्यम् । तत्रास्पष्टाकारस्यावस्तुत्वेन तत्प्रतिभासस्य भ्रान्त-
त्वात्, अन्यथा निकटस्थस्य सुतरामस्पष्टाकारावभासप्रसङ्गात् । अथावयविनः स्पष्टमस्पष्टं चेत्याकारद्वयमस्ति, तत्र
निकटस्थेनाद्यमुपलभ्यते, दूरस्थेन चान्त्यमिति न दोष इति चेत्, न, अस्पष्टाकारस्य योग्यावयविधर्मत्वे निकटस्थस्य
नियमत उभयावभासप्रसङ्गात्, अयोग्यत्वे च दूरतोऽप्यनवभ(वभास)प्रसङ्गात्, दूरदेशव्यङ्ग्यत्वे च तत्र मानाभावात्, स्फुटत्वा
स्फुटत्वयोर्विरोधेनैकत्राकारद्वयायोगाच्च । यदेव दूरेऽस्फुटमद्राक्षं तदेव सन्निधौ स्फुटमिति स्फुटास्फुटयोरेकत्वप्रतिभानं
त्वभिमानमात्रं । तन्न दूरेऽवयवेभ्यः पृथगवयविप्रतिभासः । किं च कतिपयावयवप्रतिभासेऽवयवी भातीत्यभ्युपगम्यते,
समस्तावयवप्रतिभासे वा, आद्ये जलमग्नमहाकायस्तम्भादेरुपरितनकतिपयावयवप्रतिभासेऽपि समस्तावयवव्यापिस्तम्भाद्य-
वयविप्रतिभासप्रसङ्गः । द्वितीये च मध्यपरभागवर्ति समस्तावयवप्रतिभासासम्भवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसङ्गः । भूयोऽवयवग्र-
हणं भूयोऽवयवसन्निकर्षो वाऽवयविग्राहक इत्यपि भूयस्त्वानिर्वचनाद्दुर्वचम् । किं चायमवयवेषु वर्तमानः सामस्त्येन वा
वर्तेत एकदेशेन वा, आद्ये एकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तावनेकवृत्तित्वं न स्यात्, अन्त्ये चावयविनः सांशतापातः, तत्र चांशां-

श्विनोर्भेदाभेदविकल्पासहत्वं, भेदे समवायवृत्त्यभ्युपगमेऽपि स्ववृत्तौ स्वस्यावच्छेदकत्वानुपपत्तिः। तन्नावयव्यवयवेभ्यो भिन्नः। अभेदपक्षे त्ववयवमात्रमवयविमात्रं वा स्यादिति, नावयविरूपोऽर्थः प्रमाणोपपन्नः। नापि परमाणुरूपः, तेषामपि दिक्षट्क-सम्बन्धेन षडंशताप्रसङ्गात्, न च विशकलिताः परमाणवः प्रतिभासन्ते। एकघनाकारस्य संवेदनस्यानुभूयमानत्वात्, तन्न बाह्योऽयमाकारः, किं तु संवेदनमेव तथा तथा प्रकाशत इति॥ अत्रोच्यते—बाह्यनीलाद्याकारस्य चिद्रूपत्वेऽन्तर्मुखतया भानं स्यान्न बहिर्मुखतया। भ्रान्तिवशादव्यतिरिक्तोऽप्ययं व्यतिरिक्ततया प्रकाशत इति चेत्, तर्हि यथानुभूयते तथा न सत्यो यथा च सत्यस्तथा नानुभूयत इति कथं साकारधिषणावादो योगाचारस्य सङ्गतः। 'स्वच्छं संविन्मात्रमत एव तत्त्वम्' इति यदि माध्यमिकः प्रतिपद्येत, तदा यद्ययमाकारो न विज्ञाने, नापि बहिस्तदा शशविषाणवन्नानुभूयेत, इत्युक्ते किमुत्तरं दद्यात्। अनाद्यविद्यावासनावशादविद्यमानमप्युपदर्शयन्ती भ्रान्तिरियं प्रवर्तत इति चेत्, न, बहिर्मुखावभासशून्यज्ञानान-वभासेन तद्धियो भ्रान्तित्वासिद्धेः। तस्मात् स्तम्भाद्याकारो बाह्यस्तावदवश्यमभ्युपगन्तव्यः, तत्र चाऽवयवेभ्यो भेदाभेदपक्ष-दूषणमेकान्तवाद एव सावकाशं, न चैवमभ्युपगमः, अवयवा एव तथापरिणमन्तः कथञ्चिदेकरूपतामापन्नाः स्तम्भाद्यव-यविरूपतया प्रकाशन्त इति हि जैना वर्णयन्ति। न हि येन रूपेण करचरणशिरोग्रीवादयोऽवयवाः करचरणादिप्रतीतौ प्रका-शन्ते, तेनैव पुरुषप्रतीतावपि, तत्साधारणपरिणामस्यैव तथाप्रतीतिहेतुत्वात्, अनतिरेके चावयविनः स्थौल्यमानानुप-पत्तिः। अथ किमिदं स्थौल्यं ?। न तावत्परमाण्वात्मकं, पूर्वापरादिदिग्भेदभागित्वात्तस्य, अणूनां च बहूनामपि निरंशत्वेन तदनुपपत्तेः, न हि निरंशस्यैकतः परत्वमन्यतश्चापरत्वं युक्तं। नापि परमाणुजन्यम्, असंयुक्तानां तेषां प्रतिभासस्यैव स्थौल्य-

सत्त्वलक्षण-प्रसङ्गे बौद्धोक्तोप-लब्ध्यात्म-सत्त्वखण्ड-ने बौद्धकृत-बाह्यार्थ-खण्डन-प्रश्नप्रति-विधानम्॥

स्याजनकत्वात्, संयुक्तानां चांशाभावेन सर्वात्मना संयोगे पिण्डस्याणुमात्रतापत्तेः। तदुक्तम्। "नासंयुक्तैर्न संयुक्तै-र्निरंशैः क्रियते महत् ॥ अयोगे प्रतिभासोऽपि, संयोगेऽप्यणुमात्रकम् ॥ १ ॥" इति। प्रतिभासधर्म एव स्थौल्यमिति चेत्, न, वस्तुत्वे तस्यावयविपक्षोक्तदोषतौल्यात्, अवस्तुत्वे चाभ्रान्तप्रत्यक्षानुपपत्तेः, इष्यते च परेणापि संस्थानापेक्षयाऽभ्रान्तत्वं प्रतिभासस्य, "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" इति न्यायबिन्दु(१—२)सूत्रे वर्णसंस्थानात्मके वस्तुनि 'यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्' इति धर्मोत्तरेणाभिधानात्, परमाणूनां च स्वस्वरूपमग्नानां संस्थानरूपाभाव एव। तस्मात्परमाणूनां कथञ्चित्साधारणाकारपरिणामादेव संस्थानात्मकता वस्तुनस्तदेव च स्थौल्यमिति नायं प्रतिभासधर्मः। अत एव च तत्कथञ्चित्परमाण्वात्मकं परमाणुजन्यं च व्यवस्थितम्। न च तेषां पूर्वापरादिभावानुपपत्तिः, एकक्षेत्रप्रदेशावगाढताप्रत्यासत्त्या तदयोगेऽपि परमाण्वन्तरव्यवधानायोग्यक्षेत्रप्रदेशावस्थायिताप्रत्यासत्त्या तदुपपत्तेः। अत एवोक्तं भगवता भाष्यकृता—'एगपएसं खेत्तं, मत्तपएसा य से फुसणत्ति'। हरिभद्रसूरिणाप्युक्तमनुयोगद्वारवृत्तौ—'न ह्यंशतः स्पर्शना नाम काचित्, अपि तु नैरन्तर्यमेव स्पर्शनां ब्रूम' इति परमाणुद्रव्यमेकं सप्तप्रदेशस्पर्शमुपपद्यत इति। अत एव संयोगपक्षेऽपि न पिण्डस्याणुमात्रताप्रसङ्गः। यतो नैकप्रदेशावगाढत्वेनैव संयोगो भवति, किन्तु परमाण्वन्तरव्यवधानायोग्यक्षेत्रावस्थायित्वेनापीति, परमाणोः प्रदेशार्थतया नात्मभेदः, धर्मरूपतया पुनर्भिद्यत एव, यतो न येनैव स्वभावेनैकेन सह संयुक्तः स परमाणुस्तेनैव स्वभावेनाऽपरेणापि, किन्तु कथञ्चिदन्येन, ततः कथञ्चित्परमाण्वात्मकं परमाणुजन्यं च स्थौल्यं सिद्धमिति। एतेन "नित्याः सन्त्वणवः, द्व्यणुकादिव्यवस्था संयुक्ताणुद्वयादिना, लौकिकविषयतया द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्ने त्र्यणुकत्वादिघटकसंयोगानां पिशाचत्वादि-

घटकसंयोगभिन्नानां वैजात्येन कारणत्वाच्च केवलाणुद्व्यणुकादेः प्रत्यक्षता, तादृशसंयोगविशिष्टवृत्तित्वादिकं च गुणादि प्रत्यक्षे तन्त्रमिति केवलाणुद्व्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वेऽपि न त्र्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वं, न च विजातीयसंयोगस्य द्रव्यत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वे लाघवं द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तथात्वे तु गौरवमिति वाच्यम्। अनन्तावयवितत्प्रागभावध्वंसादिकल्पने गौरवाज्जन्यद्रव्यत्वापेक्षया द्रव्यलौकिकसाक्षात्कारत्वस्यैव लघुत्वाच्च। तन्तूनामेव पटत्वे तन्तुषु पट इत्यादिधीश्च फलबलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वादेर्विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपपटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्वीकारान्नानुपपन्ना। एकः पट इति प्रतीतिरेकं वनमितिवत्समूहैकत्वविषया। महानिति प्रतीतिरपि संयोगविशेषमेवावगाहते, महान् धान्यराशिरितिवत्”

इति नव्यनास्तिकमतमपास्तं परमाणूनामपि संयुक्तासंयुक्तस्वभावेनोत्पादविनाशयोरावश्यकत्वेनैकान्तनित्यत्वायोगात्कथञ्चित्तदात्मकतज्जन्यस्कन्धस्य सामूहिकविलक्षणैकत्वशालिन आनुभविकत्वाच्च॥ विलक्षणसंयोगवत्तावदणुत्वस्य पटत्वादिरूपत्वे तावत्त्वस्य विलक्षणद्व्यत्वादिरूपस्य प्रतिसन्धानं विना पटत्वादिप्रत्ययायोगात्। विलक्षणसंयोगत्वमेव पटत्वतन्तुत्वादिकमित्यस्यापि निष्प्रतियोगिकपटत्वादिग्रहस्यानुभविकत्वेन दुर्वचत्वात्। अविविच्यमानं निष्प्रतियोगिकमेव विविच्यमानं सप्रतियोगिकमिति चेत्, अत एव तर्हि जात्यन्तररूपमवयवि द्रव्यं स्याद्वादरीत्याऽभ्युपगम्यतां, यथा विलक्षणपरिणतिमन्तस्तन्तव एव पटः, तन्तुसंयोगादुत्पन्नमेकं विलक्षणपटद्रव्यमिति व्यवहारौ सङ्गच्छेते॥

अत एव सर्वस्य वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात् क्षयोपशमविशेषात् यदोपसर्जनीकृतविशेषं प्रधानीकृतसामान्यरूपं प्रतीयते तदाऽस्पष्टमाभाति, यदा तूपसर्जनीकृतसामान्यं प्रधानीकृतविशेषं तदा स्पष्टम्, इति स्पष्टास्पष्टयोरैक्यधीर्नाभिमान—

स्वलक्षणप्रसङ्गे बौद्धमतखण्डने-
विलक्षणसंयोगवत्तावदणुत्वस्यैव पटत्वादिरूपत्वमिति नव्यनास्तिकमतस्य-
खण्डनम्॥

मात्रं, किंतु पारमार्थिक्येव, यदपि ‘ किं कतिपयावयवप्रतिभाम ’ इत्याद्युक्तं, तत्रापि यावदवयवाभिमुख्येऽवयविप्रतीत्युपपत्तिस्तावदवयवाभिमुख्यमेव, तत्र नियामकमित्येवोत्तरम्, अन्यत्र तु नाग्रहः। जलमग्नमहाकायस्तम्भादेरुपरितनकतिपयावयवावलोकनेऽपि देशतः प्रत्यक्षमुदेत्येव, स्कन्धप्रत्यक्षे त्वावरणस्यापि प्रतिबन्धकत्वमुपेयं, देशस्कन्धादिविभागस्त्वयमर्धस्तम्भोऽयं सर्वः स्तम्भ इत्यादिप्रतीत्यैवाभ्युपेयः, न चार्धत्वमवयवाश्रितमेव, अवयवावयवापेक्षयाप्यवयविनि तद्दर्शनात्, स्कन्धदेशादिविभागाभावे च पाणिचरणाद्येकैकावच्छेदेन शरीरे सकम्पत्वनिष्कम्पत्वयोरुभयावच्छेदेनोभयात्मकत्वस्य स्कन्धत्वावच्छेदेन चानुभयात्मकत्वस्य सार्वजनीनोऽनुभवः कथमुपपादनीयः। यत्तु “पाणौ शरीरं चलतीति प्रत्ययः पाणिवृत्तिकम्पस्य परम्परासम्बन्धविषयक एव, कम्पजनकाभिघातादेः फलबलेन पाणावेव कल्पनात्पाणिकर्मणैव प्रत्ययाद्युपपत्तावतिरिक्तशरीरकर्मकल्पनायां मानाभावात्, अन्यत्र क्लृप्तकम्पाभावसम्बन्धमात्रस्य शरीरे कल्पनौचित्यात्, न तु कम्पतदभावावेकत्र कल्पनीयौ, कर्मणोऽव्याप्यवृत्तित्वाभावात्, सविषयावृत्तिव्याप्यवृत्तिवृत्तिजातेरव्याप्यवृत्तिवृत्तित्वाभावनियमात्, न चोक्तयुक्त्याऽग्रादिनिष्ठसंयोगादेरेव वृक्षादौ प्रतीतिसम्भवे संयोगादेरपि व्याप्यवृत्तित्वमेवास्त्विति वाच्यम्। अंशावच्छेदेन तन्तुद्वयसंयोगादपि पटोत्पत्तेस्तदव्याप्यवृत्तित्वात्, न चांशुसंयोगादंशावेव पटोत्पत्तिः, तन्तुत्वेन पटसमवायित्वाद्” इति प्राचीननैयायिकमतम्। तदपमतम्। एवं हि शरीरस्य निष्कम्पत्वे चरणे शरीरं न चलतीति प्रत्ययापत्तिः। न च शरीरत्वादेरिव पाणेः कर्माभावानवच्छेदकत्वान्न तथाप्रत्ययः, चरणस्यापि तथात्वात्। न च चरणे न चलतीत्यत्र चरणवृत्तिकम्पाभाव एव विषयः, भेदाभेदानपेक्षायामनवयवमादायापि तथाधीप्रसङ्गात्। न च परम्परासम्बन्धेन तन्निरासः, देशदेशि-

नोर्भेदाभेदेन साक्षात्सम्बन्धावगाहिताया एवानुभविकत्वात् । एतेन ‘ पाणिवृत्तिक्रियाया दोषत्वात्पाणौ न चलतीति न धीः’
इत्यपि निरस्तम् । अनन्तावयवक्रियाणां दोषत्वकल्पनापेक्षयावयविक्रियाकल्पने लाघवात् । मक्रियावयवस्यावयविनो निष्क्रि-
यत्वे मर्वावयवावच्छेदेनोपलभ्यमानकर्मवत्यपि शरीरे कर्मानुपलम्भप्रसङ्गात् । एवं च कर्मणोऽणुमात्रगतत्वस्य त्रुटिमात्रगत-
त्वस्य वापत्तेः । तत्कर्मणैवान्यत्र प्रत्ययोपपत्तेः । यावदवयवकम्पजनकमामग्रीत्वेनावयविकम्पजनकसामग्रीनियतत्वकल्पना-
पेक्षया च यावत्त्वाप्रदेशेनावयवकम्पजनकमामग्रीत्वेन तथात्वकल्पनमेव ज्यायः । हन्त, एवं संयोगजसंयोगवत्कर्मजकर्मोपग-
मेऽपसिद्धान्त इति चेत्, सोऽयमेकान्तवादिनां भवतां दोषो, नास्माकमवयवावयविधर्माणां कथञ्चित्तदात्मकत्वतज्जन्यत्ववा-
दिनां । किं च शाखायां वृक्षश्चलति न सर्व इति प्रतीतिरपि स्कन्धदेशादिभेदसाक्षिणी, एतेन ‘कर्माऽव्याप्यवृत्तित्ववादिनवी-
नमतमपि ’ अपास्तं । न मर्व इत्यत्र मर्वावयवावच्छेदेनाभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, मर्वावयवावच्छिन्नत्वविशिष्टतासम्बन्धे-
नाभावभानाभ्युपगमे चावच्छेदकभेदानवगाहनात् । इष्यते च प्रतियोगिमत्त्वेन भासमाने तदभाववत्ताधियोऽवच्छेदकभेदाव-
गाहित्वं । अन्यथा देशावच्छिन्नोऽपि सम्बन्ध एव स्यादिति मम्बन्ध्यनवच्छिन्नतापत्तिः । तस्मादनन्यगत्या शबलवस्त्व-
भ्युपगमे देशस्कन्धादिविभाग आवश्यक इति दिग् । यदप्युच्यते परैः “ जलमग्नस्तम्भाद्यवयवी गृह्यत एव, तस्यानावृतत्वात्,
यावदवयवसंयोगस्य कुत्राप्यसम्भवात्, भूयोऽवयवावच्छेदेन चक्षुरादिसंयोगस्य च ग्राहकस्य तत्रापि सत्त्वात्, भूयस्त्व-
स्य चानेकत्वविश्रान्तत्वात्, दीर्घत्वमहत्त्वादिकं त्वावृतत्वान्न गृह्यते, तत्प्रत्यक्षं प्रति तत्तदावारकसंयोगत्वेन प्रतिबन्धक-
त्वात्, न च तद्दशायामनावृतस्याप्यन्यस्य तादृशदीर्घत्वादिप्रत्यक्षानुपपत्तिः, विषयतासम्बन्धेन परिमाणसाक्षात्कारत्वा-

सत्त्वलक्षण-
प्रसङ्गे बौद्ध-
मतखण्ड-
नेऽवयवि-
विचारे
कर्माव्या-
प्यवृत्तित्व-
वादिनव्य-
नैयायिक
मतस्य
खण्डनम् ॥

वच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनैव तत्तदावारकसंयोगत्वेन प्रतिबन्धकत्वादिति ”। तदपि न। आवरणस्थलेऽपि दीर्घोऽयं महानयं स्तम्भ इत्यादिप्रतीतेर्दीर्घत्वादेरप्यनावृतत्वात्। यदप्युच्यते–“ आवरणस्थले दीर्घत्वादिग्रहेऽपि तन्निष्ठावान्तरवैजात्याग्रहात्तद्वैजात्यग्रहं प्रत्येवावारकसंयोगस्य विरोधिता कल्प्यते, अत एव धर्मिग्रहेऽपि धर्माग्रहणं दोषादित्याचार्याः। न च निखातानिखातसदृशवंशयोः सन्निकर्षदशायां तन्महत्त्वादिवृत्तिवैलक्षण्यानुभवात्तद्वैजात्यप्रत्यक्षं प्रत्यप्यावरकसंयोगानां प्रतिबन्धकत्वासम्भव इति वाच्यम्, तादृशवैलक्षण्यप्रकारकप्रत्यक्षं प्रत्येव तेषां विरोधित्वात्, विशेष्यत्वं प्रतिबध्यतावच्छेदकः सम्बन्धः स्वाश्रयसमवेतत्वं च प्रतिबन्धकतावच्छेदक इत्यनतिप्रसङ्ग इति ” तदपि न। तथापि निखातसन्निकर्षात्तादृशवैलक्षण्यनिर्विकल्पकापत्तेर्दुर्वारत्वात्। आवरणदशायां स्कन्धत्वाख्यस्तम्भादिवृत्तिवैलक्षण्याग्रहेण तत्प्रत्यक्षं प्रत्येवाऽवरणसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वौचित्याच्च। अत एव तदा स्तम्भैकदेशो गृह्यते न सर्वः स्तम्भ इति व्यवहारः, परिमाणगतवैलक्षण्यं तु द्विहस्तमितेऽर्धावृते हस्तत्वरूपं गृह्यत एव, न च तदवयवगतं, सामूहिकविलक्षणत्वात्, देशग्रहे तद्गतानां धर्माणां ग्रहो न तु स्कन्धाग्रहे तद्गतानामितित्वस्मदीयेनैव पथा शोभते। एतेन ‘ अनावृतस्वाश्रयाविषयकपरिमाणगतवैलक्षण्यप्रत्यक्षे आवरणसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वं विशेष्यता–स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वे प्रतिबध्यप्रतिबन्धकतावच्छेदकौ सम्बन्धाविति नोक्तनिर्विकल्पकापत्तिः ’ इत्यप्यपास्तम्। तथाप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात्, इत्थमप्यावृतसन्निकर्षादनावृतस्वाश्रयविषयकवैलक्षण्यप्रत्यक्षावारणाच्च। तत्रावरणसंयोगानवच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य पृथक्कारणत्वकल्पने च महागौरवात्। यदपि मथुरानाथेनाभ्यधायि–“ अस्तु वा तत्तद्वैलक्षण्यसाक्षात्कारप्रयोजकतयापि चक्षुरादिसंयोगनिष्ठं वैजात्यान्तरं, तेनार्धनिखात-

सविवरणम् ॥ सत्त्वलक्षणप्रसङ्गे बौद्धमतखण्डनेऽवयविविचारे आवरणस्थले परिमाणगतवैजात्यस्यैवाऽग्रहणमिति मतस्य खण्डनम् ॥ ॥ १२ ॥

स्थलीयवैजात्यस्य न निर्विकल्पकमपि। एतेन "अनावृतैकपार्श्वावच्छेदेनैकस्य पुंसश्चक्षुरादिसंयोगाद्यस्य दण्डादिनिष्ठहस्तवितस्त्यादिपरिमाणस्य तद्गतहस्तत्वादिवैजात्यस्य वा न ग्रहस्तस्येव तदानीं पुरुषान्तरस्य तत्पुरुषस्यैव वाऽन्यदा पार्श्वान्तरावच्छेदेन चक्षुःसंयोगेऽप्यग्रहः स्यादावरकसंयोगस्य विरोधिनः सत्त्वात्। न च तत्तत्कालीनतत्तत्पुरुषीयमहत्त्वादिप्रत्यक्षं प्रत्येव तत्तदावरकसंयोगत्वेन कथितप्रत्यासत्त्या प्रतिबन्धकत्वं, तथा सत्यनावरणकालीनस्य तत्तत्पुरुषीयविलक्षणमहत्त्वादिप्रत्यक्षस्यावरणदशायामुत्पत्तिप्रसङ्गात्, नहि तत्राप्यन्यद्विशिष्य कारणं क्लृप्तं, येन तद्विलम्बादेव तद्विलम्बः स्याद् इत्यादि प्रत्युक्तमिति"। तदपि तुच्छं। एवं सति तत्तदवान्तरवैलक्षण्यग्राहकतावच्छेदिकानामप्यनन्तजातीनां कल्पनापत्तेः, चक्षुरादिसंयोगनिष्ठवैजात्यान्तरस्यापि कार्यमात्रवृत्तिजातित्वेन कार्यतावच्छेदकतया तदवच्छिन्नजनकत्वाभिमतादावरणसंयोगाभावादेव वैलक्षण्यचाक्षुषोपपत्तौ तत्कल्पने मानाभावाच्च। एतेन तत्पुरुषीयद्रव्यचाक्षुषे विलक्षणचक्षुःसंयोगत्वेनैव हेतुत्वम्, आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगत्वेन हेतुत्वेऽनिस्तारात्, यत्रैकस्यैव पटस्यार्द्धं तमस्यर्द्धं चालोके, तत्र तमोवच्छेदेन संयोगेऽपि प्रत्यक्षापत्तेः, आलोकसंयोगावच्छेदकीभूतदीर्घतन्तुव्यक्त्यवच्छेदेन चक्षुःसंयोगाप्रतिघातात्, इत्थमेव स्वगोलकादेरग्रहणं, परमाण्ववच्छेदेन कपाले चक्षुःसंयोगाद् घटेऽपि तदवच्छिन्नकपालावच्छेदेन ततस्तदग्रहणं, निरवच्छिन्नस्थूलावयवनिष्ठावच्छेदकताकचक्षुःसंयोगत्वेन हेतुत्वे तु शर्कराद्यवच्छिन्नकपालावच्छेदेन चक्षुःसंयोगेऽपि घटाप्रत्यक्षतापत्तिः। न चैवमुद्भूतरूपमहत्त्वयोः पृथगहेतुत्वापत्तिः, द्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषं प्रत्यपि तादृशचक्षुःसंयोगवद्विशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वेन सत्यालोकसंयोगे वाय्वादौ × × × × × × × × × × × × × × × × × (त्रुटितः पाठः)

सत्त्वलक्षण प्रसङ्गे बौ० खण्डने, अवयविपरिमाणगतवैजात्यस्य चाग्रहणमिति मतखण्डने मथुरानाथमतखण्डनम्॥

[॥ अस्य मूलादर्शेऽत्रैकं पत्रं नास्ति तत्र च द्वितीयकारिकाविवरणान्त्यविभागस्य सविवरणतृतीयतुर्यपद्ययोश्च विशीर्णत्वमित्यर्थानुसन्धानपूर्तिमात्रमत्र स्वोपज्ञवृत्तितः किञ्चिद्योजितम् ॥]

[घटाभावादेः प्रत्यक्षापत्तिवारणायोद्भूतरूपस्य परमाण्वादौ घटाभावादेः प्रत्यक्षापत्तिवारणाय महत्त्वस्य च पृथक्कारणताया आवश्यकत्वादिति निरस्तम् ॥ २ ॥ एवञ्चोत्पादव्ययध्रौव्ययोगितामन्तरेण न सत्तासम्बन्धशक्त्युपलब्ध्यादिरूपेण वस्तुलक्षणमुपपद्यत इत्येतत्सर्वं चेतसि निधायाह—

न यत् सत्ताभिसम्बन्धा–न्न शक्तेर्नोपलब्धितः ॥ विनोत्पादव्ययध्रौव्ये–र्वस्तुत्वमुपपद्यते ॥ ३ ॥

यद् यस्मात्सत्ताभिसम्बन्धात्, शक्तेर्वाऽर्थक्रियां प्रति, उपलब्धेर्वा सकाशात्, उत्पादव्ययध्रौव्यैर्विना वस्तुत्वं नोपपद्यते, ततस्तद्योगविकलं यत्तादृशं यदि परं तत्सर्वं शशशृङ्गादिरूपमेव भवतीति पूर्वश्लोकेन सम्बन्धः ॥ ३ ॥

इदानीमुत्पादादिस्वरूपं निरूपयति, तथाहि—

उत्पादो वस्तुनो भावो, नाशस्तस्य व्ययो मतः ॥ ध्रौव्यमन्वितरूपत्व–मेकं नान्योऽन्यवर्जितम् ॥ ४ ॥

उत्पादो वस्तुनो भावः, व्ययो विनाशः, अन्वितरूपत्वं च ध्रौव्यं, तदिदमुत्पादादित्रयमन्योन्यरहितं न सम्भवति, तत्र उत्पादो वस्तुनो भाव इत्यनेन यत्कस्यचिन्मतं "कारणसमवायः सत्तासमवायो वा येन तदेव क्रियते प्रत्ययैरिति" तत्प्रतिक्षिप्यते, समवायसत्तासमवाययोर्नित्यत्वेन कार्यनित्यत्वप्रसङ्गात्, प्रध्वंसे च तदननुगमाद्विशीकरणाधीनस्वात्मत्वात्का-

त्रुटितपूरणे उत्पादादित्रिकमन्तरेण सत्ताशक्त्युपलब्धितो न वस्तुत्वोपपत्तिरुत्पादव्ययध्रौव्याणां निर्वचनञ्च ॥

॥ १३ ॥

र्यत्वमित्यनेन सत्परिणामानभ्युपगमे तदनुपपत्तेरिति वक्ष्यामः, 'प्रतीत्य समुत्पादरूप उत्पाद' इत्यप्यसुन्दरम्, इहैव निराकरिष्यमाणत्वात् । तस्माद्वस्तुनो भावस्तथापरिणामापत्तिलक्षण उत्पादः, यतो वस्तुनो भाव इति कर्तरि षष्ठी, वस्त्वेव सत्कार्यरूपतया भवति, वस्तुसत्त्वैव कार्यसत्तारूपतां प्रतिपद्यत इत्यर्थः, द्रव्यस्यैव तत्पर्यायरूपतया भावात्, तदनेन पूर्वभवनभूतान्यथाभूतभवनात्मक एवायमुत्पाद इत्यावेद्यते, एतदुपरिष्टात्प्रमाधयिष्यामः ॥ तथा नाशस्तस्य व्ययो मतः इत्यनेनापि यत्सुगतसुता व्यावर्णयन्ति यथा " न तस्य किञ्चिद्भवति, न भवत्येव केवलम् " इति तदपास्तं, यदि हि किञ्चिदपि तस्य न भवति तदक्षतमेव तद्वस्तु स्यादिति प्रबन्धेन प्रतिपादयिष्यते । वस्तुनोऽत्यन्तभिन्नः प्रध्वंसनामाऽभावो विनाश इत्यप्यबुधजनमनोहरं, यदि नाम भावव्यतिरिक्तमपरमभावनामकं वस्त्वन्तरमुत्पन्नं तदा भावस्य किमागतं ? येन स न स्यात्, इहापि विस्तरमभिधास्यामः ॥ वस्तुतस्तु यस्य वस्तुन उत्पादः पूर्वमभिहितः तस्यैव पूर्वरूपाभवनात्मकोत्तररूपतापरिणामलक्षणो विनाशो व्ययः, तत्तद्भेदे च तस्येति सञ्ज्ञायोगः, वस्त्वेव व्येति पूर्वरूपादपगच्छति रूपान्तरमवलम्बमानेन तेन पूर्वपर्यायात्मना स्वयमेव व्यावर्तनात् । एतेन ये केचिद्विकल्पयन्ति तदपि न, तथाहि, विनाशरूपोऽयं व्ययः किं द्रव्य] विनाशः, उत पर्यायविनाशः, अथवाऽऽवरणयोगः, उताहो विज्ञानानुत्पादकत्वं, नाद्यद्वितीयौ, अनभ्युपगमात्, न तृतीयः, अविचलितरूपस्यावरणायोगात्, न ह्यकिंचित्कार्यावरणं भवति । न तुरीयः । ज्ञानजनकता येन रूपेण तद्रूपस्य विद्यमानत्वात्सहकारिणामकिञ्चित्करत्वात् । ध्रौव्यमन्वितरूपत्वं पूर्वापरपरिणामसाधारणैकस्वरूपत्वं, न त्वप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतालक्षणं कूटस्थनित्यत्वम्, अतोऽन्योन्यरहितमेतत्त्रयं कथं भवेदिति, न चेह केनचित्कस्यचिद्विरोधः, अविनाभाविनि रूपे विरोधाभावात् ॥ ४ ॥ तदाह—

त्रुटितपूर्-
वे उत्पादा-
दीनां त्रया-
णामन्यो-
न्यसहिता-
नामेवाव-
स्थानं, तेषां
वाद्यन्तरा-
भिमतलक्ष-
णमपाकृ-
त्य स्वाभि-
मतलक्षण-
व्यवस्था-
पनम् ॥

अविनाभावि यद् येन, न तत्तेन विरुध्यते ॥ वृक्षत्वेनेव चूतत्व–मिहाप्येवं व्यवस्थितिः ॥ ९ ॥

यद् येन सहाऽविनाभावि सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं, तत्तेन सह न विरुध्यते । सामानाधिकरण्यानुभवे सहानवस्थाननियमपरस्परपरिहारादिलक्षणविरोधनिरासात्, वृक्षत्वेन सामान्यरूपेण, विशेषरूपं चूतत्वमिव, सामान्यविशेषरूपतया प्रविभक्तयोरपि वृक्षत्वचूतत्वयोः सामानाधिकरण्यानुभवाद् यथाऽविरोध इत्यर्थः, इहाप्युत्पादादित्रयेऽपि, एवं सामानाधिकरण्यानुभवप्रकारेण, व्यवस्थितिरविरोधसिद्धिः । इत्थं च यदुक्तमर्चटेन "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्ययुक्तं । ध्रौव्येणोत्पादव्यययोर्विरोधात् । कथञ्चिदुत्पादव्ययौ कथञ्चिद्ध्रौव्यमिति चेत्, यथोत्पादव्ययौ, न तथा ध्रौव्यं, यथा च ध्रौव्यं न तथोत्पादव्ययाविति नैकं वस्तु यथोक्तलक्षणं स्यादित्यादि," तदपास्तम् । उत्पादादीनां परस्परानुविद्धत्वेन रूपरसयोरिव विरोधाभावात् । ध्रौव्यं परिणामिवस्त्वात्मकं तदुत्पादव्ययावप्युच्यते, न पुनस्तावत्यन्तव्यतिरिक्तौ, तावपि वस्तुन एव परिणामाविति ध्रौव्यमप्युच्यते, न पुनस्तदत्यन्तव्यतिरिक्तं किञ्चिदिति । अत एव यथोत्पादव्ययौ न तथास्ति ध्रौव्यमित्याद्यपि प्लवते, शबले वस्तुनि थाप्रत्ययार्थस्य प्रकारस्य व्यक्तिस्वरूपेणापि सम्भवात् । यद्व्यक्तिस्वरूपेण देवदत्तपिता तद्व्यक्तिस्वरूपेण पुत्र इतिवत् । विविक्तव्यवहारश्च वैवक्षिक एव, यथोक्तध्रौव्य एवोत्तररूपप्राधान्यविवक्षयोत्पादस्य पूर्वरूपव्यावृत्तिप्राधान्यविवक्षया व्ययस्य तयोरेवान्वयप्राधान्यविवक्षया ध्रौव्यस्य व्यपदेशात्, क्षयोपशमद्वारेणार्थित्वादिवशात्तथा तथा व्यवहारप्रवृत्तेरिति सम्प्रदायः । वयन्तु ब्रूमः, "तद्भावाव्ययं नित्यम्" इति (तत्त्वार्थ अ० ५–३०) सूत्रानुसारेण व्ययाभावरूपत्वेऽपि ध्रौव्यस्यावच्छेदकभेदान्न विरोधो, ध्रौव्यावच्छेदकं हि द्रव्यत्वम्, उत्पादव्ययावच्छेदकौ चोत्तरपूर्वपरिणामत्वे इति,

उत्पादादीनां त्रयाणामविनाभावित्वेनाविरोधस्य व्यवस्थापनं, तेषामविरोधमसहमानस्य बौद्धविशेषस्यार्चटस्य मतमपाकृतम्, तत्र प्राचांस्वस्य च विचारावुपदर्शितौ ॥

इष्यते चावच्छेदकभेदेनाविरोधः संयोगतदभावादिस्थले मर्वैरपीति, यथोत्पादव्ययौ न तथा ध्रौव्यमित्याद्यभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । यथेत्यस्य यद्धर्मावच्छेदेनेत्यर्थात् । न चैवम्प्रकारेऽनेकान्तभङ्गप्रसङ्गः, प्रकारैकान्तस्य धर्म्यनेकान्तानेकान्तत्वेनेष्टत्वात् । यत्समन्तभद्रः "अनेकान्तेऽप्यनेकान्तः, प्रमाणनयसाधनात् ॥ अनेकान्तः प्रमाणात्ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ १ ॥" इति । अत एव 'अनेकान्तेऽप्यनेकान्ताभ्युपगमेऽनवस्थापत्तिः' इति पशुपालप्रलपितमपास्तम् ॥ तृतीयचतुर्थाद्यनेकान्तानां प्रथमद्वितीयादिरूपत्वेनानवस्थानिरासात् । अवच्छेदकावच्छेदकादिगवेषणया सप्तभङ्गीकोटगुत्थानस्य च विषयान्तरसञ्चारादिना नयोपयोगविरामेणान्ततस्तत्त्वार्थवृत्त्युक्तदिशा शुद्धमाध्यमिकनयपर्यवसानेन वा विरामादिति ॥ ५ ॥

नन्वत्यन्तासतो भाव एव उत्पादः, निरन्वयोच्छेद एव विनाशः, अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपतैव ध्रौव्यमित्येव कुतो न कल्प्यते, किमविनाभाव्युत्पादादित्रयं कल्प्यते इति चेत्, उच्यते—

नासतः सर्वथा भावो, न नाशः सर्वथा सतः ॥ नान्वयोऽपि विनैताभ्यां, प्रमाणे प्रतिभासते ॥ ६ ॥

परकल्पितोत्पादादीनां प्रमाणाविषयत्वेन प्रागुक्तमविनाभाव्युत्पादादित्रयमनुभवसिद्धमभ्युपगम्यत इति समुदितार्थः ॥६॥

उत्पादो वस्तुनो भाव इत्याद्युद्देशक्रममनुरुध्य प्रत्येकविचारे पूर्वमुत्पादं विचारयति—

उत्पादो यदि दृष्टत्वा-दिष्टः प्रामाणिकैः परैः ॥ तदा द्रव्यस्य तद्भाव-परिणामोऽयमिष्यताम् ॥७॥

यद्युत्पादो दृष्टत्वादुत्पन्नोऽयं घट इत्यादिप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् । परैः प्रामाणिकैः, व्यवहारतः प्रमाणविद्भिः, इष्टः अभ्युपगतः, तदा द्रव्यस्य प्रतिनियतरूपेण परिणामस्वभावोऽयमेष्टव्यः । न हि तद्रूपपरिणामव्यतिरेकेणाकस्मिकं किमपि

अनेकान्तानेकान्ते समन्तभद्रसंवादः, तत्रानवस्थायाः पशुपालोक्तायाः परिहारः, एकान्तवाद्यभिमतानामुत्पादादीनामपाकरणम्, स्वाभिमतोत्पादस्वरू-

रूपमुत्पादस्वभावमनुभवामः । द्रव्यपर्यायान्यतरनिष्ठता तु तस्यान्यतरप्राधान्येन व्यवहर्तव्या । न चैवं घटादिपरिणामात्मकत्वे उत्पादस्य द्वितीयादिक्षणे उत्पन्नत्वव्यवहारापत्तिः, नाशोत्पत्त्याश्रयत्वेन कालगर्भनष्टत्वव्यवहारवदाद्यक्षणावच्छिन्नतद्भावाश्रयत्वेनैव कालगर्भोत्पादव्यवहारसम्भवादिति दिग् ॥ अत एव कथञ्चिदुत्पादाभ्युपगम एव हि सुवर्णं कुण्डलत्वेनोत्पद्यते, मृत्पिण्डो घटत्वेनेत्यादिव्यपदेशः सङ्गच्छते । प्रागनुपलब्धरूपस्योपलम्भश्च कथञ्चिदेव, न तु सर्वथा, मृदादिरूपेण घटस्य प्रागप्युपलम्भात् । प्रतीत्य समुत्पाद इत्यपि परिणामानभ्युपगमे वचनमात्रं, किमपि प्रतीत्य कस्यचिदनुत्पादात् । ननु परिणामोऽपि वस्तुनः पूर्वरूपस्य परित्यागेनापरित्यागेन वा, आद्येऽवस्थानां साङ्कर्याद् वृद्धोऽपि युवेत्युपलभ्येत, द्वितीये केन परिणामः, पूर्वरूपस्य निरुद्धत्वादिति चेत्, न, कथञ्चित्परित्यागस्यैवोपगमात् । तदाहुः—" परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥ " इति, हन्तैवं वृद्धाद्यवस्थायां बालाद्यवस्थाऽस्ति नास्ति चेति युगपदुपलम्भानुपलम्भप्रसङ्ग इति, द्रव्यतयास्ति पर्यायतया नास्तीति तद्रूपाभ्यां युगपदुपलम्भानुपलम्भयोरविरोधात् । न ×

[इतोऽग्रे निखिलमपि विवरणं नास्माकं दृग्गोचरतामायातमिति मूलमात्रं प्रकरणं प्रकाश्यते तदर्थजिज्ञासुना स्वोपज्ञा वृत्तिः सुलभेति साऽवलोक्या]

॥ इति खण्डितावस्थं उत्पादादिसिद्धिप्रकरणविवरणं समाप्तम् ॥

स्वाभ्युपग-
तस्योत्पाद-
स्य समर्थनं
तत्र परि-
णामस्य स-
मर्थनञ्च ॥

॥ उत्पादादिसिद्धि[द्वात्रिंशिका]प्रकरणम् ॥ [मूलमात्रम्]

यस्योत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तवस्तूपदेशतः ॥ सिद्धमाप्तस्वभावत्वं, तस्मै सर्वविदे नमः ॥ १ ॥ यदुत्पादव्ययध्रौव्य-योगितां न
बिभर्ति वै ॥ तादृशं शशशृङ्गादि-रूपमेव परं यदि ॥ २ ॥ न यत्सत्ताभिसम्बन्धा-न्न शक्तेर्नोपलब्धित ॥ विनोत्पादव्ययध्रौव्यै-र्व-
स्तुत्वमुपपद्यते ॥ ३ ॥ उत्पादो वस्तुनो भावो, नाशस्तस्य व्ययो मतः ॥ ध्रौव्यमन्वयिरूपत्व-मेकं नान्योन्यवर्जितम् ॥ ४ ॥
अविनाभावि यद्येन, न तत्तेन विरुध्यते ॥ वृक्षत्वेनेव चूतत्व-मित्थाप्येवं व्यवस्थितिः ॥ ५ ॥ नासतः सर्वथा भावो, न नाशः
सर्वथा सतः ॥ नान्वयोऽपि विनैताभ्यां, प्रमाणे प्रतिभासते ॥ ६ ॥ उत्पादो यदि दृष्टत्वा-दिष्टः प्रामाणिकैः परैः ॥ तद्रूपप-
रिणामोऽयं, तदेष्टव्यस्ततो न किम् ॥ ७ ॥ यदसत्तन्न केनापि, क्रियते वियदब्जवत् ॥ उपादानं न चेह स्यात्, सर्वं सर्वत्र
वा भवेत् ॥ ८ ॥ कार्यकारणभावादि-व्यवस्थाप्यत्र दुर्घटा ॥ शक्तीनां नियमोऽप्येष, स्यात्सत्त्वेन विना कथम् ॥ ९ ॥ भिन्नो
भावादभिन्नो वा, नाशः किं वा स एव न ? ॥ भेदे वस्तूपलभ्येत, तादवस्थ्यप्रसङ्गतः ॥ १० ॥ अभेदे भाव एवाय-मभावः
केवलोऽथवा ॥ ततः सद्भावभासेत, भावो यद्वा कदाऽपि न ॥ ११ ॥ अभावेऽपि च नाशस्य, वक्तुमेतदसाम्प्रतम् ॥ न तस्य
किञ्चिद्भवति, न भवत्येव केवलम् ॥ १२ ॥ विद्युदाद्यपि नात्यन्तं, नाशित्वेन प्रकाशते ॥ अन्धकाराद्युपादान-भावनास्यैव सम्भ-
वात् ॥ १३ ॥ न चैवं तस्य रूपस्य, नाशे पूर्वसमुद्भवः ॥ तदन्यस्यापि तन्नाशस्वभावस्य प्रसूतितः ॥ १४ ॥ कर्मतत्फलस-
म्बन्ध-बन्धमोक्षाद्यसङ्गतिः ॥ स्फुटैव सर्वथोच्छेदे, सन्तानः स्वः परो न वा ? ॥ १५ ॥ इन्द्रियाधीनजन्मेय-मभेदग्राहिणी मतिः ॥
प्रामाण्यं बाधवैकल्या-दश्नुते भेदबुद्धिवत् ॥ १६ ॥ यदभेदस्य भेदेन, भवनं सोऽयमन्वयः ॥ एकान्तेन न नित्यत्वं, प्रमाणानुप-

उत्पादव्यय-ध्रौव्य-योगित्व-लक्षणसत्त्व-व्यवस्थापनम् ॥

पत्तितः ॥ १७ ॥ भावा ज्ञेयस्वभावाश्चे-न्नित्यं तज्ज्ञानसम्भवः ॥ त(अ)थाज्ञेयस्वभावास्ते, कदा तज्ज्ञानसम्भवः ? ॥ १८ ॥ सह-
कारिव्यपेक्षाऽपि, नित्यैकान्ते न युज्यते ॥ नाधेयं नापनेयं वा, रूपं तैस्तस्य किञ्चन ॥ १९ ॥ वस्तुतोऽचिन्त्यशक्तित्वादे(त्वमे)व
चेदिष्यते परैः ॥ द्रव्यरूपस्य पर्यायै-रैक्यं दृष्टं न किं मतम् ? ॥ २० ॥ न हि द्रव्यातिरेकेण, पर्यायाः सन्ति केचन ॥ द्रव्यमेव
ततः सत्यं, भ्रान्तिरन्या तु चित्रवत् ॥ २१ ॥ पर्यायव्यतिरेकेण, द्रव्यं नास्तीह किञ्चन ॥ भेद एव ततः सत्यो, भ्रान्तिस्तद्-
ध्रौव्यकल्पना ॥ २२ ॥ नाभेदमेव पश्यामो, भेदं नापि च केवलम् ॥ जात्यन्तरं तु पश्याम-स्तेनानेकान्तसाधनम् ॥ २३ ॥
सुखदुःखादिसम्बन्धो, युज्यते कथमन्यथा ? ॥ व्यर्थः श्रमस्ततोऽन्येषां, दुस्तर्काकुलचेतसाम् ॥ २४ ॥ ननूत्पादादयो धर्मा,
भिन्नाः स्युर्धर्मिणो यदा ॥ नीरूपत्वं तदा तस्य, वाच्यं वा लक्षणान्तरम् ॥ २५ ॥ अभेदे युक्तता न स्यात्, अस्याभेदव्यपे-
क्षणात् ॥ सम्बन्धशब्दो नायं यद्, न द्वयेन विना स तु ॥ २६ ॥ किं चोत्पादादियोगित्व-मुत्पादादेर्यदिष्यते ॥ अनवस्था तदा मृग्यं,
तेनान्यद्वस्तुलक्षणम् ॥ २७ ॥ सत्त्वं हि वस्तुनो रूपं, सदिति प्रत्ययो यतः ॥ सत्स्वरूपवियोगेन, नोत्पादादेरपि स्थितिः ॥ २८ ॥
यदुत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं तेभ्यः परं न तत् ॥ किन्त्वभेदांशमाश्रित्य, तेषामेव तथा स्थितिः ॥ २९ ॥ भिन्नशब्दप्रवृत्तिश्च, भेदांश-
स्यापि सम्भवात् ॥ निरपेक्षौ न चान्योऽन्य. भेदाभेदाविमौ क्वचित् ॥ ३० ॥ वस्तुनस्तत्र नैरूप्यं, न चान्यदपि दूषणम् ॥ सदिति
प्रत्ययोऽप्येष, तत एवोपजायते ॥ ३१ ॥ बोधरूपादयोऽप्येत-त्त्रैरूप्याभेदवर्तिनः ॥ कथञ्चित्तेन जैनेन्द्रं, सुदृशं वस्तुलक्षणम् ॥ ३२ ॥

॥ श्री उत्पादादिसिद्धिद्वात्रिंशिकाप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ ॐ अर्हं सत्तर्कदेशिने श्रीवर्धमानस्वामिने नमः ॥

॥ न्यायविशारद–न्यायाचार्य–श्रीयशोविजयवाचकविरचिता वादमाला ॥

ऐंकारस्मरणं कुर्व–न्नेष न्यायविशारदः ॥ वादमालां वितनुते, शिष्याणां हितकांक्षया ॥ १ ॥

तत्र चित्ररूपं विचार्यते । तत्र नीलासमवायिकारणको नीलो नवेति विप्रतिपत्तिः । विधेः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन, निषेधस्य च सामानाधिकरण्येनोद्देश्यत्वान्न सिद्धसाधनबाधौ । नीलरूपासमवायिकारणकरूपत्वं पीतरूपासमवायिकारणकवृत्ति नवा, नीलो नीलान्यरूपासमवायिकारणं नवेत्याद्या वा विप्रतिपत्तयः । अत्रैकदेशिनः (प.२पं.३अन्वयः) “नीलासमवायिकारणको नील एव, नीलातिरिक्तस्य तत्त्वे गौरवात्, तथाहि, चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति न नीलत्वादिना हेतुत्वं, व्यभिचारात्, नापि रूपत्वेन, नीलमात्रारब्धेऽपि तदापत्तेः । अथ नीलेतरपीतेतररूपादेरपि तत्र हेतुत्वान्न तदापत्तिः, यत्रैकावयवे नीलोऽपरत्र च पीतजनकाग्निसंयोगस्तत्रावयवे पीतरूपोत्पत्त्यनन्तरमेवावयविनि चित्रोत्पत्तिस्वीकारान्न व्यभिचारः । न च नीलाभावादिषट्कस्यैव समवायेन विजातीयचित्रं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन हेतुत्वमस्त्विति वाच्यम्, नीलपीतोभयकपालारब्धे घटे पाकनाशितावयवपीतस्य चित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले चित्रोत्पत्त्यापत्तेः । न च कार्यसहभावेन नीलाभावादीनां तद्धेतुत्वान्नायं दोष इति वाच्यम्, नीलपीतश्वेतत्रितयकपालारब्धे पाकेन पीतश्वेतयोः क्रमेण नाशे श्वेतनाशकालेऽपि तदापत्तेः । अथाऽस्तु

मङ्गलं चित्ररूपे विप्रतिपत्तयः चित्ररूपानभ्युपगन्तॄणां नव्यनैयायिकानां पूर्वपक्षः ॥

नीलनीलजनकतेजःसंयोगान्यतरत्वाच्छिन्नाभावत्वादिना हेतुत्वमिति चेत्, न, संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वेन प्रतियोगिव्यधिकर-
णतदभावत्वादिना हेतुतायां गौरवात्। अपि चोक्तसम्बन्धेन नीलाभावादीनां चित्रहेतुत्वे वाय्वादावपि तदापत्तेः, उक्त-
रूपत्वेनापि तद्धेतुताकल्पने गौरवम्। न च जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रत्येव रूपत्वेन हेतुत्वान्न तदापत्तिः, नीलादौ नीलादेर्हेतु-
तावश्यकत्वे तादृशहेतुतायां मानाभावात्। एतेन 'अनवच्छिन्नविशेषणतया प्रतियोगिवैयधिकरण्याविशेषितोक्ताभावहेतुत्व-
॥ १७ ॥ सम्भवेऽपि न क्षतिरिति चेत्, न, पाकमात्रादपि चित्रोत्पत्तेः। अथ रूपजन्यतावच्छेदकं विजातीयचित्रत्वम्, अग्निसंयोग-
जन्यतावच्छेदकं चापरम्। अग्निसंयोगजन्यचित्रं प्रत्यवच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताका नीलजनकाग्निसंयोगादेर-
भावा उक्तप्रत्यासत्त्या हेतवो रूपजनकविजातीयाग्निसंयोगश्चेति न वाय्वादौ तदापत्तिः, स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्न-
२० प्रतियोगिताकरूपाभावस्यापि तद्धेतुत्वेन नोभयस्मात् तदुत्पत्तिः, न च रूपजचित्रं प्रत्यग्निसंयोगाभावस्यैव हेतुत्वं किं न
स्यात् इति वाच्यम्, नानाग्निसंयोगाभावानां हेतुत्वकल्पनापेक्षया रूपसामान्याभावस्यैव तत्कल्पनौचित्यादित्याहुः,

वस्तुतो विजातीयाग्निसंयोगाभावस्यैव रूपजचित्रे हेतुत्वसम्भवान्न किञ्चिदेतत्, किन्तु विजातीयचित्रे विजातीयतेजः-
संयोगस्य, विजातीयचित्रे चोभयोरेव हेतुत्वं, नीलेतररूपत्वादिनैव चित्रहेतुत्वे तु रूपमात्रजातिरिक्ते विजातीयतेजःसंयोग
२४ एव हेतुः, फलबलेन वैजात्यकल्पनात्; अग्निसंयोगमात्रजातिरिक्ते रूपहेतुताया वक्तुमशक्यत्वाच्चेति ध्येयम्॥

पाकजचित्रे वा मानाभावः, पाकादवयवे नानारूपोत्पत्त्यनन्तरमेवावयविनि चित्रस्वीकारे लाघवादित्येके। तच्चिन्त्यम्,
चित्रजनकत्वाभिमतस्य पाकस्यावयवनीलपीतादिजनकत्वे नीलपीतादिजनकतावच्छेदकजातिसाङ्कर्यादुभयादिजनकतावच्छेद-

चित्ररूपविचारे चित्ररूपानभ्युपगन्तृपूर्वपक्षे चित्ररूपाभ्युपगन्तुरथेत्यादिना पूर्वपक्षः॥

॥ १७ ॥

कजातेस्तत्र नानापाकादीनां वा कल्पने गौरवादित्यपरे। यत्तु 'नीलासमवायिकारणत्वादिनैव चित्रसामान्यं प्रति हेतुता' इति तत्राऽसमवायिकारणत्वस्यातिगुरुत्वेन कारणतानवच्छेकत्वादिति चेत्, न, चित्रस्थले नीलादिसामग्रीसत्त्वान्नीलाद्यापत्तिवारणाय नीलादौ नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवादित्याहुः॥" तदसत्, अव्याप्यवृत्तिनीलादिकल्प एव गौरवात्, तथाहि, अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतररूपादीनां प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्। अन्यथा पीतावयवावच्छेदेन नीलोत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च नीलस्य स्वाश्रयावच्छेदेन नीलजनकत्वस्वभावादेव न तदापत्तिरिति वाच्यम्। विनैतादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावं तथास्वाभाव्यानिर्वाहात्। ननु समवायेन रूपं जायत एव, पीतावयवावच्छेदेनेत्यत्रापादकाभाव इति चेत्, न, समवायस्येवावच्छेदकताया अपि कारणनियम्यत्वौचित्यात्। यत्तु 'अवच्छेदकतया नीलहेतुः अवच्छेदकतया नीलाभाव एव तदापादक इति' तच्चिन्त्यम्। अवच्छेदकतया जन्यरूपत्वाच्छिन्नं प्रति तया(अवच्छेदकतया) रूपस्यापि प्रतिबन्धकत्वे मानाभावात्, समवायेन रूपहेतोः समवायेन रूपाभावस्याऽभावादेवावच्छेदकतया रूपे उत्पन्ने पुनस्तया तदुत्पत्त्यसम्भवात्, कार्यतावच्छेदकीभूततद्धर्माश्रययत्किञ्चिद्व्यक्तिवृत्तिकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकावच्छिन्नं यावत्प्रत्येकं तावत्सत्त्व एव कार्योत्पत्तिनियमात्। अत एव नीलपीतोभयकपालनीलावच्छेदिकायामेव नीलकपालिकायामवच्छेदकतया घटनीलोत्पत्तिः सङ्गच्छते, सामग्रीसत्त्वात्, एवञ्च नीलादौ नीलेतररूपादीनां नीलेतररूपादौ वा नीलादीनां प्रतिबन्धकत्वे विनिगमकाभावः, मम तु नीलेतररूपादौ नीलादीनां न प्रतिबन्धकत्वं नीलपीतारब्धे नीरूपत्वप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्। अथ ममापि नीलत्वादि-
[illegible] प्रतिबध्यतावच्छेदकं न तु पीतेतररूपत्वादिकं, गौरवात्। न च नीलत्वेन प्रतिबन्धकत्वं न तु नीलेतरत्वेन गौरवादित्येव

चित्ररूपविचारे चित्ररूपाभ्युपगन्तृकृतखण्डनसंवलितचित्ररूपानभ्युपगन्तृनव्यपूर्वपक्षस्य तदसदित्यादिना प्राचीनानां चित्राभ्युपगन्तॄणां प्रतिविधानम्॥

किं न स्यात्, अवच्छेदकगौरवस्याऽदोषत्वात्, अस्तु वाऽवच्छेदकतया नीलादौ समवायेन नीलादीनामेव हेतुत्वं, न च नानारूपवत्कपालारब्धघटनीलस्य तत्कपालावच्छेदेनोत्पत्तिप्रसङ्गः, केवलनीलत्वादिनैव तद्धेतुत्वात्, समवायेन नीलादौ च स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलादीनां हेतुत्वं, न च नीलमात्रारब्धनीलस्यावयवेऽवच्छेदकतयोत्पत्तिप्रसङ्गः, स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायित्वसम्बन्धेन नीलेतररूपादीनामप्यवच्छेदकतया नीलादौ हेतुत्वात्। केचित्तु 'व्याप्यवृत्तिनीलस्थलेऽव्याप्यवृत्तित्ववारणाय समवायेन नीलेतररूपविशिष्टनीलत्वेनावच्छेदकतया रूपं प्रति हेतुता' इत्याहुः, तन्नेत्यन्ये, नीलविशिष्टनीलेतरस्याप्येवं हेतुतापत्तौ पृथक्कार्यकारणभावात्। वस्तुतोऽवच्छेदकतया नीलादावुक्तसम्बन्धेन नीलेतररूपविशिष्टनीलत्वादिनैव हेतुत्वं, नच नीलेतरत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति नीलविशिष्टनीलेतरत्वादिना हेतुत्वे विनिगमकाभावो नीलत्वापेक्षया नीलेतरत्वस्य गुरुत्वात्॥

एतेन 'उक्तसम्बन्धेन नीलेतरादेर्नीलादिकं प्रति हेतुत्वं नीलादीनां नीलेतरादिकं प्रति वेति विनिगमनाविरहाद्द्वादशकार्यकारणभावापत्तिरित्यपास्तम्। इत्थं चातिनिष्कर्षादस्माकं द्वादशैव कार्यकारणभावा इति चेत्, चित्ररूपकल्पेऽपि नीलेतररूपादिषट्कस्य चित्रं प्रति हेतुत्वं नीलादौ च नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं तत एत नानारूपवत्कपालारब्धे शुक्लावयवमात्रारब्धे च नीलाद्यनुत्पत्तिनिर्वाहादिति तुल्यम्। अव्याप्यवृत्तिनानारूपतत्प्रागभावप्रध्वंसादिकल्पनागौरवं पुनरधिकमायुष्मतः, यदि च नीलपीतवत्यग्निसंयोगान्नीलावयवावच्छेदेन पाके रक्तोत्पत्तिर्न स्याद्रूपं प्रति रूपस्य प्रतिबन्धकत्वादिति विमृश्य नीलादौ नीलादेर्विशिष्य प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते, तदापि चित्ररूपकल्प एव लाघवम्। स्वतन्त्रास्तु चित्ररूपं प्रति रूपत्वेनैव हेतुत्वं, नीलमात्राद्यारब्धे तु चित्रप्रागभावाभावादेव न तदुत्पत्तिः, अस्तु वा चित्रं प्रति चित्रेतररूपस्य, चित्रेतरं प्रति चित्रस्य

चित्ररूपविचारे अस्मां कटुगन्तॄणां चत्कारस्योपदर्शनं नव्यकर्तृकतत्प्रतिपक्षयुक्तेरपाकरणं स्वतन्त्राणां मतस्योपदर्शनञ्च ॥
॥ १८ ॥

कार्यसहभावेन प्रतिबन्धकत्वमित्यतिलाघवमित्याहुः । अथ व्याप्यवृत्तिरूपस्याप्यवच्छेदकस्वीकारादवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादेर्हेतुत्वादव्याप्यवृत्तिरूपसिद्धिः । न चैवं घटेऽपि तया नीलाद्यापत्तिः, अवयवनीलत्वेन द्रव्यविशिष्टनीलत्वेनैव वा तद्धेतुत्वात् । न च नीलमात्रपीतमात्रकपालिकाद्वयारब्धनीलपीतकपाले तदापत्तिः, नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेन तदुत्पत्तेरिष्टत्वात्। अस्तु वा तया नीलादौ नीलेतररूपादेरेव विरोधित्वमिति चेत्, न, नीलादौ नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकतयैवोपपत्तौ तत्र नीलादिहेतुताया मानाभावेन नानारूपवदवयवारब्धेऽवयविनि चित्ररूपसिद्धेरेव प्रामाणिकत्वात्, व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकाऽयोगादुक्तविनिगमनाविरहाच्चावच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वापेक्षया समवायेन नीलादिकं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया एव न्याय्यत्वात् ॥

केचित्तु 'विजातीयचित्रं प्रति स्वविजातीयत्वस्वसंवलितत्वोभयसम्बन्धेन रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्वम्, स्ववैजात्यञ्च 'चित्रत्वातिरिक्तं यत् स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वं', स्वसंवलितत्वं च 'स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वं', न च स्वत्वाननुगमः, सम्बन्धमध्ये तत्प्रवेशात्" इत्याहुः। यत्तु "नीलपीतोभयाभावपीतरक्तोभयाभावादीनां स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां च विजातीयविजातीयपाकोभयाभावादीनां यावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभाव एकश्चित्रत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुरिति" तन्न, प्रसिद्धान्वयव्यतिरेकग्रहविषयतावच्छेदकरूपेणैव कारणत्वौचित्यात्, अन्यथा प्रायशोऽन्यत्राप्यभावविशेषस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गात्। परे तु "चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनैव हेतुता नीलपीतोभयारब्धवृत्तिचित्रत्वावान्तरवैलक्षण्यावच्छिन्ने च नीलत्वेन पीतत्वेन च हेतुता", एवं त्रितयारब्धे तत्तत्रितयत्वेन, नीलपीतोभयादिमात्रारब्धे च

चित्ररूपवादे चित्ररूपाभ्युपगन्तृप्राचीनमतपरिष्कारे अव्याप्यवृत्तिरूपाभ्युपगन्तृमतस्य खण्डनं, चित्ररूपपक्ष एव कारणता-भेदोपदर्शकमतोपदर्शनञ्च ॥

नीलपीतान्यतरादीतररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वान्न त्रितयारब्धचित्रवति द्वितयारब्धचित्रप्रसङ्गो, न चैवं गौरवं, प्रामाणिकत्वात् ।

वस्तुतः समवायेन द्वितयजचित्रादौ स्वाधिकरणपर्याप्तवृत्तिकत्वसम्बन्धेनैव द्वितयादीनां हेतुत्वं, नातः प्रागुक्तप्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवम् ॥ उच्छृङ्खलास्तु "नीलपीतरक्ताद्यारब्धघटादौ नीलपीतरक्तादेव नीलपीतोभयजपीतरक्तोभयजतत्रितयजचित्राणामुत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात् । न चैकमेव तदस्त्विततिवाच्यं, तत्तदवयवद्वयमात्राद्यवच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे विलक्षण-विलक्षण-चित्रोपलम्भात् जातेरव्याप्यवृत्तित्वे पुनरस्त्वेकमेव तत्, किञ्चिदवच्छेदेन तत्र नीलत्वपीतत्वरक्तत्वविलक्षणचित्रत्वादिसम्भवात्" इत्याहुः ॥ अत्र वदन्ति "नीलविशिष्टपीतादिना नीलपीतोभयादिना वाऽवान्तरचित्रबुद्धिसम्भवान्नावान्तरचित्रसिद्धिश्चित्रत्वेन सममवान्तरचित्रत्वसामानाधिकरण्यप्रत्ययस्यापि नीलपीतविशिष्टचित्रत्वसामानाधिकरण्यावगाहित्वाद्वस्तुतो नीलाद्यविशेषितनीलादिभेदाश्रयरूपसमुदायेनाऽनुगतचित्रप्रतीतिसम्भवाच्चित्रत्वसामान्यमप्यसिद्धमेवेति", तच्चिन्त्यम् । चित्रत्वजातेरनुभवसिद्धत्वेनापलापायोगाद्, अन्यथा नीलादिप्रतीतेरपि भेदविशेषावगाहित्वेन नीलत्वादिकमपि विलीयेत, चित्रत्वग्रहे च परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपादिमत्त्वग्रहो हेतुः, अत एव "त्र्यणुकचित्रं चक्षुषा न गृह्यते" इत्याचार्यः ॥

न च नीलेतररूपत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकग्रहो न हेतुर्नीलत्वपीतत्वादिनाऽवयवगतनीलपीतादिग्रहेऽप्यवयविचित्रप्रत्यक्षादितिवाच्यम् । विलक्षणचित्रप्रत्यक्षे तेन तेन रूपेण तत्तद्ग्रहस्यापि हेतुत्वात् । वस्तुतो "नीलेतररूपत्वादिव्याप्यत्वेन नीलेतररूपत्वपीतत्वाद्यनुगमान्न क्षतिः, त्रसरेणोश्चित्ररूपाग्रहे चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तेः, नीलेतररूपपीतेतररूपादिमदवयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षोऽवयवनीलानुगतनीलत्वादिग्रहविरोधिदोषाभावश्च हेतुः" इति वदन्ति । अवयविनि साक्षान्नीलपीतादिग्रह एव तद्ग-

वादे प्राचीनमतपरिष्कारे अवान्तरानेकजातीयचित्राभ्युपगन्तॄणामुच्छृङ्खलानाम्मतम्, चित्रत्वानभ्युपगन्तृमतस्य खण्डनञ्च ॥
॥ १९ ॥

हेतुचित्रवति नीलपीतादि–समावेशस्य प्रामाणिकत्वे तत्प्रमाया इतरथापि तद्भ्रमस्य सम्भवादित्यप्याहुः । यत्तु “अव्याप्यवृत्तिनीलादिकल्पे तादृग्नीलादिप्रत्यक्षे द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रत्यव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति वा चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्निकर्ष एव निरूपकतया विषयनिष्ठो हेतुः, स च संयोगादिप्रत्यक्षस्थले क्लृप्त एव, न च नीलकपालिकावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षस्य तत्समवेतनीलपीतोभयकपालावच्छिन्नत्वनियमात् तदवच्छेदेन सन्निकर्षे पीतग्रहापत्तिः, संयोगव्यक्तिर्यद्देशव्यापिनी तत्र परम्परया तद्देश एवावच्छेदको न तु सम्पूर्णोऽवयव इत्यभ्युपगमात्, चित्ररूपकल्पे च चित्रप्रत्यक्षे उक्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवमिति ” तन्न, तादृशगौरवस्य फलमुखत्वेनादोषत्वात् । अपरे तु “ तत्र व्याप्यवृत्तीन्येव नीलपीतादीन्युत्पद्यन्ते नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वनीलाभावादिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्यवृत्तिनीलपीतादिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादित्याहुः, तदपि न, नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीतादेरुपलम्भापत्तेः, नीलाद्यवयवावच्छेदेन सन्निकर्षस्य नीलादिग्राहकत्वकल्पने च गौरवात्। यत्तु “ एतत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेनैतत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत्तन्नीलान्यं तद्भिन्नं यदेतद्घटसमवेतं तस्यैतत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रत्येतत्कपालावच्छेदेनैतद्घटचक्षुःसन्निकर्षस्य हेतुत्वान्न पीतावयवाद्यवच्छेदेन सन्निकर्षे नीलादिचाक्षुषापत्तिरिति ”, तन्न, तथा हेतुतायां महागौरवात् ॥ किञ्चैवं नीलावयवाद्यवच्छेदेन नीलादिप्रतीतेर्भ्रमत्वापत्तिरपि नीलेतरादेर्नीलादिविरोधित्वे कथं तत्र व्याप्यवृत्तिनीलपीतादिकम्, इत्याद्यूहनीयम्। रसगन्धौ तु व्याप्यवृत्ती एव नानारसाद्यवयवारब्धावयविनो नीरसत्वादिकमेव,तत्र नानारसकल्पने गौरवात्। ‘षड्रसा हरितकी’ इतिव्यवहारस्तु तस्याः षड्रसकार्यकारित्वात् पर-

वादे प्राचीनमतपरिष्कारे चित्ररूपकल्पे गौरवोपदर्शकमतस्य खण्डनं चित्रस्थले व्याप्यवृत्तिनीलाद्यभ्युपगममतस्य खण्डनम्,रसगन्धयोर्नचित्रत्वञ्च॥

न्यरयाऽवयवगतषड्रसवत्तया वोपपादनीयः। नन्वेवं नीरूपो निःस्पर्शस्तत्रावयवी किं न स्यात्, न चैवमप्रत्यक्षः स्यात्, द्रव्यतत्समवेतचाक्षुषस्पार्शनसाधारण्येन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रत्येव च स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन च रूपस्य स्पर्शस्य च हेतुत्वादत एव त्रुटिचाक्षुषाद्यनुरोधेन परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिः" इत्याहुः, तच्चिन्त्यम्। चित्रकपालिकास्थले तदसम्भवात्। किञ्च घटाकाशसंयोगाद्यचाक्षुषत्वानुरोधेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयं व्यासज्यवृत्तिगुणप्रत्यक्षं प्रति यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वेऽप्यव्यासज्यवृत्त्याकाशादिगुणाचाक्षुषत्वोपपत्तये रूपवत्त्वस्य द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षनियामकप्रत्यासत्तिघटकत्वे गौरवात्, न च स्पर्शशब्दाद्यन्यतमभेदस्य चाक्षुषहेतुत्वात् स्पर्शादेरिव शब्दादेरपि तत्तत्त्वेन चाक्षुषाहेतुत्वादेव वा नाकाशादिगुणचाक्षुषापत्तिरितिवाच्यम्, अखण्डभेदस्याहेतुत्वात् रूपाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वे शब्दादीनां तत्त्व–तत्त्वेन हेतुत्वाकल्पनलाघवाच्च। न च चाक्षुषाभावस्यैवास्तु द्रव्यान्यसच्चाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धकत्वम्, आश्रयाचाक्षुषत्वेनैव द्व्यणुकाद्यचाक्षुषत्वोपपत्तौ महत्त्वस्यापि प्रत्यासत्त्यघटकत्वे लाघवादिति वाच्यम्। लौकिकविषयितावच्छिन्नचाक्षुषाभावापेक्षया समवायसम्बन्धावच्छिन्नरूपाभावस्य लघुत्वात्। किञ्च त्रुटावेव विश्रामे महत्त्वस्योभयथा प्रत्यासत्त्यघटकत्वे विनिगमनाविरहादपि रूपाभावस्य प्रतिबन्धकत्वम्॥ इत्थं च तादृशघटस्य नीरूपत्वे तादृशघटवृत्तिसंयोगादिचाक्षुषं न स्यात्, एतेन "उद्भूतैकत्वस्यायोग्यव्यावृत्तधर्मविशेषस्यैव वा द्रव्यचाक्षुषकारणत्वेन रूपं विनाऽपि घटादिचाक्षुषत्वोपपादनेन स्वतन्त्राणां तादृशघटस्य नीरूपत्वं" प्रत्याख्यातम्, स्पार्शनं प्रति तु स्पार्शनाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वं, न तु स्पर्शाभावस्य, त्रुटिसमवेतास्पार्शनानुरोधेन संयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वस्य घटकत्वे गौरवात्,

एवं च तादृशघटस्य निःस्पर्शत्वे तु न क्षतिः, इतिमदेकपरिशीलितः पन्थाः ॥ अथ चाक्षुषसामान्यं प्रत्येव मात्राभावसाधारणेन शक्तिविशेषेण लाघवाद्धेतुत्वम्, अन्यथा द्रव्यचाक्षुषे समवायेन गुणादिचाक्षुषे च सम्बन्धसम्बन्धविशेषेण रूपस्य हेतुत्वे वक्तव्ये गौरवादिति किमर्थं नानारूपवदवयवारब्धावयविन्यनन्तरूपादिकल्पनमिति चेत्, न, रूपत्वादिनाऽन्वयव्यतिरेकग्रहात्तेनैव रूपेण रूपस्य विषयस्य च तत्तद्रूपेण चाक्षुषहेतुत्वात्, अन्यथा दण्डचक्रादीनामपि घटं प्रति शक्तिविशेषेणैव हेतुत्वप्रसङ्गात् । किञ्चैवं रूपादीनामेव शक्तिविशेषेण हेतुत्वं विषयस्य वेति विनिगमनाविरहः, न च रूपादीनां प्रत्यासत्तिभेदेन कारणताभेदस्तत्प्रत्यासत्तीनामेव शक्तिविशेषेणानुगतानां हेतुत्वप्रसङ्गात्, अपि चैवं चाक्षुषसामान्यं प्रति प्रयोजको रूपस्यैव सिद्ध्यतु कश्चन सम्बन्धविशेषो, न तु शक्तिविशेषः, एवञ्च त्र्यणुकादिवृत्तिरूपस्यैव सम्बन्धविशेषेण चतुरणुकादिसाक्षात्कारसम्भवेऽनन्तावयविरूपाकल्पनया लाघवमिति । यदि च समवायेनैव रूपस्याऽन्वयव्यतिरेकग्रहादिना तेनैव तस्य द्रव्यचाक्षुषहेतुत्वं तदा सिद्धं नः समीहितम् ॥ इति चित्ररूपविवेचको वादः ॥ प्रथमो वादः समाप्तः ॥ १ ॥

(२) वैशेषिकाणां लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानाभ्युपगमो निर्युक्तिकत्वेन न श्रद्धेयः, न च वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकवह्नित्वावच्छिन्नविधेयताकानुमितित्वस्य धूमपरामर्शजन्यतावच्छेदकत्वात् तत्सिद्धिः, शुद्धपर्वतत्वसामानाधिकरण्यमात्रावगाहिन्यामनुमितौ सामानाधिकरण्यमात्रावगाहिपरामर्शस्य शुद्धपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितविशेषणतासंसर्गावच्छिन्नविरोधिप्रकारताशून्यशुद्धपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितधूमप्रकारताशालित्वेन हेतुतायां पर्वतत्वातिरिक्तधर्मानवच्छिन्नत्वलक्षणशुद्धपर्वतत्वावच्छिन्नत्वस्थले वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतत्वाद्यतिरिक्तधर्मानवच्छिन्नत्वनिवेशे गौरवात्, पक्षेऽलौकिकहेत्वाद्यमा-

चित्ररूपवादे चाक्षुषम्प्रति शक्तिमत्त्वेन कारणत्वं न तु रूपत्वेनेति प्रश्नस्य खण्डनं चित्ररूपवादसमाप्तिः॥

लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानवादारम्भः॥

वनिश्चयाद् द्वितीयक्षणोत्पन्नाद्धेत्वाद्यंशे लौकिकपरामर्शाद्द्वितीयक्षणेऽनुमित्यनापत्तेश्च। एतेन "वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्, पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान् इति परामर्शयोरेकरूपेणानुमितिहेतुत्वात् तत्सिद्धिः" इत्यपास्तम्। पर्वते हेत्वभावनिश्चयदशायां लिङ्गोपहितलैङ्गिकानुमित्यनुपपत्तेः, तत्र शुद्धपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकानुमित्यभ्युपगमेऽपि तादृशानुमितौ तादृशपरामर्शस्य हेतुतायां व्यभिचारो, वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकपरामर्शस्य वह्निव्याप्यधूमविषयतामनन्तर्भाव्य स्वाव्यवहितोत्तरपर्वतविशेष्यकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रत्येव हेतुत्वे तु शुद्धपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकपरामर्शस्याऽपि स्वाव्यवहितोत्तरतादृशानुमितित्वावच्छिन्नं प्रत्येव हेतुत्वेनास्मत्पक्षप्रवेशात्। अथाव्यवहितोत्तरत्वमनिवेश्य वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतत्वपर्याप्तविशेष्यतावच्छेदकताकवह्नित्वावच्छिन्नविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति वह्निव्याप्यधूमत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपकविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन परामर्शस्य हेतुत्वम्, नातः पर्वतत्वपर्याप्तविशेष्यतावच्छेदकताकपरामर्शजन्यानुमितौ पर्वते वह्निमनुमिनोमीतिवद्वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वते वह्निमनुमितोमीत्यनुव्यवसायापत्तिः, तत्र वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतत्वस्य विशेष्यतावच्छेदकत्वेऽप्युद्देश्यतानवच्छेदकत्वात्, न वा वह्निव्याप्यालोकवान् पर्वतो वह्निव्याप्यधूमव्याप्यवांश्चेति परामर्शाद्वह्निव्याप्यालोकवान् पर्वतो वह्निमान् वह्निव्याप्यधूमव्याप्यवान् पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवानित्यनुमितेर्धूमपरामर्शं विनाऽप्युत्पत्तौ व्यभिचारः, तादृशानुमितेर्वह्निव्याप्यधूमप्रकारतानिरूपितपर्वतविशेष्यताकत्वेऽपि वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतत्वपर्याप्तविशेष्यतावच्छेदकताकत्वाभावात्, नापि वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो घटश्चेति परामर्शजन्यानुमितौ घटस्योद्देश्यतापत्तिः, तत्र तत्परामर्शविशेष्यतायाः सत्त्वेऽपि वह्निव्याप्यधूमप्रकारतानिरूपकविशेष्यताया अभावात्, उद्देश्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकानुमितिं

प्रति च पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताऽभावप्रकारतानिरूपितप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात्पर्वतो न वह्निव्याप्यधूमवानिति बाधकाले न वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतत्वपर्याप्तोद्देश्यतावच्छेदकताकानुमित्यापत्तिः। नच तत्र शुद्धपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकानुमितेराकस्मिकत्वापत्तिः, तादृशसिद्ध्यभावादेरेव तन्नियामकत्वादिति चेत्, अत्र वदन्ति "लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानस्वीकारेऽनन्तसिद्धिप्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवम्, न चान्यथा द्वितीयानुमित्या(त्यना)पत्तिः, द्वितीयानुमितिस्थानीयपरामर्शानुव्यवसायकल्पने चातिगौरवादिति," तच्चिन्त्यम्, फलमुखस्य तस्यादोषत्वात्, पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्वह्निव्याप्यधूमव्याप्यवान्वह्निव्याप्यधूमव्याप्यव्याप्यवानित्यादिपरामर्शादनुमितिधारापत्तेः सिद्धिप्रतिबन्धकत्वं विनाऽवारणात् लाघवाद्विशिष्टविषयत्वाप्रवेशेनानुमितिसामग्रीत्वेन प्रत्यक्षत्वेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावे क्लृप्ते विशेषदर्शनोत्तरमनुमितिमङ्गीकृत्य व्यवहारविलोपभियाऽग्रे प्रत्यक्षकल्पनात् तदुत्पत्तिकालेऽनुमित्यापत्तिवारणाय तत्कल्पनाया आवश्यकत्वाच्च।

गुरुचरणास्तु "अनुमितित्वपरामर्शत्वाभ्यां सामान्यत एव कार्यकारणभावान्न धूमलिङ्गकत्वादेः कार्यतावच्छेदकताया घटकतया लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानसिद्धिः, परामर्शत्वं च 'मानमत्वव्याप्यो जातिविशेष इति' परामर्शे वक्ष्यते, न च घटव्याप्यवत्तापरामर्शाद्वह्न्यनुमित्यापत्तिर्विधेयतावच्छेदकतापर्याप्तिसम्बन्धेनैव तयोः कार्यकारणभावाद्, अत एव न प्रमेयवह्नित्वपर्याप्तविधेयतावच्छेदकताकपरामर्शाच्छुद्धवह्नित्वपर्याप्तविधेयतावच्छेदकताकानुमित्यापत्तिः, न वा वह्नित्वपर्याप्तविधेयतावच्छेदकत्वं विनापि वह्नित्वेऽपर्याप्ततया तदुत्पत्तेर्व्यभिचारः, पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवानिति परामर्शात्पर्वते महानसीयवह्निकल्पने लाघवमित्यादिज्ञानसहकृतान्महानसीयवह्नित्वेन वह्न्यनुमितिस्तु नाभ्युपेयते, व्यापकतावच्छेदकरूपेणैवानुमित्युपगमात्। न च

लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानव्यवस्थापकवैशेषिकप्रश्नस्यान्योपदर्शितं प्रतिविधानमपाकृत्य गुरुचरणानां प्रतिविधानमुपदर्शितम्॥

वह्निव्याप्यधूमवानितिपरामर्शात् पर्वतो न वह्निमानितिबाधकालेऽनुमित्यापत्तिः, विधेयतावच्छेदकतासम्बन्धेन पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकज्ञानं प्रति पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताऽभावप्रकारतानिरूपितप्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितावच्छेदकत्वाख्यविषयतासम्बन्धेन ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाद्" इत्याहुः ॥ अत्रेदमवधेयम् ॥ पर्वते वह्निव्याप्यवत्तापरामर्शाद्बाधाभावबलेन पर्वतविशेष्यिकेव चत्वरविशेष्यिकाऽप्यनुमितिः स्यादिति तद्वारणाय विशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेनापि परामर्शस्य पृथक्कारणता वाच्या, विशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन वह्निविधेयकानुमितिं प्रति च वह्नित्वविषयतावच्छिन्न(तानिरूपिता)ऽवच्छिन्नत्वविषयतावच्छिन्न (निरूपित)प्रतियोगित्वविषयतानिरूपिताऽभावविषयतानिरूपितविशेषणतासंसर्गावच्छिन्न(संसर्गतानिरूपित)विशेष्यतानिरूपिताऽवच्छेदकत्वाख्यविषयतासम्बन्धेन ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वं, नातः पर्वतो न वह्निमानिति बाधकाले पर्वतत्वे विशेष्यतावच्छेदकतयाऽनुमित्यापत्तिः, विशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन पर्वतविशेष्यकज्ञानं प्रति च पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताऽभावप्रकारतानिरूपितप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वान्न पर्वतो न नील इति बाधकाले नीलपर्वतत्वपर्याप्तविशेष्यता(वच्छेदकता)कपरामर्शात्तादृशानुमित्युत्पत्तिरिति ।

इदन्तु चिन्त्यम्—यत् पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान् भूतलं घटव्याप्यसंयोगविशेषवदिति समूहालम्बनपरामर्शात्पर्वतो घटवान् भूतलं वह्निमदित्यनुमित्यापत्तिः, नच पर्वतत्वावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितघटत्वावच्छिन्नविधेयताकानुमितित्वं परामर्शकार्यतानवच्छेदकमिति न तदवच्छिन्नापत्तिः, सिद्ध्यभावादिकार्यतावच्छेदकत्वात् तस्य । अथानुमिताविव परामर्शेऽपि पक्षसाध्ययोरुद्देश्यविधेयभावस्य प्रामाणिकत्वे पर्वतत्वाद्यवच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितविधेयतावच्छेदकतैवास्तु कार्यकारणतावच्छेदकः स-

म्बन्धोऽनन्तलिङ्गाद्यन्तर्भावेन हेतुत्वाकल्पनलाघवाप्रच्यवादित्थमपि च लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानसाधनं निर्मूलमिति चेत्, न, वह्नित्वाद्यवच्छिन्नविधेयतानिरूपितोद्देश्यतावच्छेदकतासम्बन्धस्य तथात्वे विनिगमनाविरहादेवमप्यनन्तपक्षान्तर्भावेन हेतुत्वाकल्पनलाघवाप्रच्यवादिति। यत्तु "धूमपरामर्शादीनां विजातीयानुमितावेव हेतुत्वान्न तत्सिद्धिरिति," तच्चिन्त्यम्—धूमपरामर्शजन्यतावच्छेदकालोकपरामर्शजन्यतावच्छेदकजात्योरुभयपरामर्शजन्यानुमितौ साङ्कर्यादुभयपरामर्शजन्यतावच्छेदकजातेरतिरेके चोभयपरामर्शसत्त्वे प्रत्येकपरामर्शजन्यानुमितिप्रसङ्गात्तत्र किञ्चित्प्रतिबन्धकादिकल्पने च गौरवात्। विजातीयानुमितौ विजातीयपरामर्शस्य हेतुत्वात् पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नविधेयताकानुमितौ तादृशपरामर्शत्वेन हेतुत्वाद्वा न तत्सिद्धिरिति युक्तः पन्थाः॥ एतेन "विशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन वह्निव्याप्यधूमविशिष्टे वैशिष्ट्यज्ञानं प्रत्येव वह्निव्याप्यधूमत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासम्बन्धेन निश्चयत्वेन हेतुता, न तु परामर्शानुमित्योः पृथक्कार्यकारणभावः,न चैवं वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतो घटवानित्यनुमित्यापत्तिः पक्षतादिजन्यतावच्छेदकपर्वतपक्षकघटानुमितित्वस्य घटव्याप्यविशिष्टपर्वतविशेष्यकत्वनियतत्वेन सामर्ग्रीं विना कार्यानुत्पत्तेः। न च गृहीतैकसम्बन्धावच्छिन्नव्याप्तिकस्य धूमादेरन्यसम्बन्धेन पक्षे निश्चयाद्विशिष्टबुद्धिवदनुमित्यापत्तिः, तन्निश्चयस्यानुमित्यजनकत्वेन सामान्यसामग्रीत्वाभावाद्" इति निरस्तम्॥

लिङ्गविषयकत्वे बाधके लिङ्गाविषयकानुमितेस्त्वयाऽपि स्वीकारात्तत्र च परामर्शानुमित्योः पृथक्कार्यकारणभावावश्यकत्वाल्लिङ्गविषयकानुमितौ मम पृथक्कारणत्वाकल्पनया लाघवमिति चेत्, न, उक्तरीत्योभयत्रैकरूपेणैव हेतुत्वात्। यत्तु "लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानाभ्युपगमेऽन्नतो बाधसत्प्रतिपक्षयोरदोषत्वापत्तिः" इति तन्न, लिङ्गाविषयकानुमितावेव तयोः प्रतिबन्धकत्वात्, यदपि

अन्योक्तं लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानखण्डनप्रकारमपाकृत्य स्वयं तत्खण्डनमार्गमावेदितवांस्तेन च लिङ्गोपहिते लैङ्गिकमानसाधनप्रकारान्तरस्याप्यु-

शुद्धपर्वतत्वमामानाधिकरण्येन परामर्शात्तथैव सिद्धौ लिङ्गविषयकानुमित्यापत्तिरिति तत्र परस्येष्टापत्तिस्तस्यास्तत्रापि विरोधित्वे तु लिङ्गविशिष्टपर्वतत्वसामानाधिकरण्येन परामर्शादपि तस्यां सत्यामनुमित्यनापत्तेः, वस्तुतः शुद्धपर्वतत्वसामानाधिकरण्येन वह्निमत्तानिश्चयस्य पर्वतत्वातिरिक्तधर्मानवच्छिन्नविशेष्यताकवह्नित्वावच्छिन्नविधेयताकानुमितित्वमेव प्रतिबध्यतावच्छेदकं न तु पर्वतत्वातिरिक्तं यद्वह्निव्याप्यधूमादि तदतिरिक्तधर्मानवच्छिन्नविशेष्यताकवह्निविधेयाताकानुमितित्वं महागौरवात् ॥

अत्रेदं विचारणीयं शुद्धपर्वतत्वसामानाधिकरण्येन सिद्धिसत्त्वे लिङ्गविषयकानुमित्यभ्युपगमे पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान् इतिपरामर्शघटितसामग्र्याः प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वे वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतो वह्निमानितिसिद्ध्यभावस्य घटकत्वे गौरवम् ॥ किञ्च पर्वतो न वह्निव्याप्यधूमवानितिबाधकाले पर्वतो वह्निमानितिसिद्धिसत्त्वे प्रत्यक्षस्यैवोदयात्प्रागुक्तपरामर्शघटितसामग्रीप्रतिबन्धकतायां शुद्धपर्वतत्वसामानाधिकरण्येन सिद्ध्यभावोऽपि निविशते तथाविधबाधासत्त्वेऽप्युक्तसिद्धिसत्त्वेऽनुमितेरुत्पत्तेस्तदानीं भिन्नविषयकप्रत्यक्षवारणाय तादृशसिद्ध्यभावमनिवेश्यापि प्रतिबन्धकतान्तरकल्पनमावश्यकमिति गौरवम् ॥

अस्माकन्तु पर्वतो न वह्निव्याप्यधूमवानितिबाधकालीनादपि पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवानितिपरामर्शात्पर्वतो वह्निमानितिसिद्धिसत्त्वेऽनुमितेरनभ्युपगमात्सिद्ध्यभावानिवेशेन प्रतिबन्धकत्वकल्पने लाघवमिति, अथ लिङ्गविशिष्टपर्वतत्वसामानाधिकरण्येन शुद्धपर्वतत्वसामानाधिकरण्येन च परामर्शघटितसामग्र्योरेकरूपेणैव प्रतिबन्धत्वान्नोक्तदोष इतिचेत्, न, लिङ्गान्तरविशिष्टपर्वतत्वसामानाधिकरण्येन सिद्धौ सत्यां लिङ्गान्तरविशिष्टपर्वतत्वसामानाधिकरण्येनानुमित्यनुदयापत्तिवारणाय तत्तत्सिद्ध्यभावादिघटिततत्तद्रूपेण प्रतिबन्धकत्वावश्यकत्वात्, इति दिग् ॥ यत्तु "यत्र वह्निव्याप्यधूमवानितिपरामर्शोऽप्रामाण्यग्रह-

लिङ्गोपहितलैङ्गिकमाने प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनगौरवप्रसङ्गतस्तदपाकरणम् ॥

॥ २३ ॥

प्रस्तस्तदुत्तरं तद्व्याधधीस्तदुत्तरानुमितिजनकपरामर्शेऽप्रामाण्यज्ञानाभाववैशिष्ट्यादाने लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवादिनां मते लाघवं तादृशानुमितेर्बाधज्ञानप्रतिबन्धादेवाऽनुदयाद्" इति, तच्चिन्त्यम्, तथापि ततो लिङ्गानुपहितानुमित्यापत्तिवारणायाऽप्रामाण्यज्ञानाभाववैशिष्ट्यदानस्यावश्यकत्वाद्। वस्तुतः सामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन ज्ञानाभाव एव परामर्शे सामान्यतो निविशते विशेष्यता चाऽप्रामाण्यप्रकारतानिरूपिता निरवच्छिन्नोभयावृत्तिधर्मावच्छिन्ना ग्राह्या, अप्रामाण्यप्रकारतानिरूपितधूमपरामर्शत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाश्चाभावाः पृथगेव निवेश्या इति तादृशधर्माणामुभयवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः, एवं च सामान्यत एवाप्रामाण्यज्ञानाभावस्य निवेशान्नोक्तस्थले तत्तदप्रामाण्यज्ञानाभावनिवेशे गौरववार्ताऽपि, एवञ्च तत्तदनुमितित्वस्य तत्तल्लिङ्गविषयकत्वनियमोक्तावपि न क्षतिरिति ॥ इति लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानरहस्यवादः ॥२॥

(३) अथ द्रव्यनाशं प्रति हेतुता विचार्यते ॥ तत्र द्रव्यनाशं प्रति निमित्तेतरकारणनाशत्वेन कारणतेति प्राञ्चः, तन्न, कपालसंयोगादेरपि किञ्चित्कार्यं प्रति निमित्तत्वात् तत्तद्द्रव्यनिमित्तेतरत्वदानेऽननुगमाच्च, अथ प्रतियोगितया द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यतासम्बन्धेन स्वप्रतियोगिनिमित्तेतरकारणप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टतादृशनाशत्वेन हेतुत्वान्नाननुगमो, न वा प्रत्यासत्तिभेद इति चेत्, न। निमित्तत्वस्य समवायिकारणासमवायिकारणेतरत्वगर्भत्वात् ॥

नव्यास्तु "असमवायिकारणनाशादेव सर्वत्र द्रव्यनाशो द्व्यणुकादिनाशं प्रति परमाणुद्वयसंयोगनाशादीनां विशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां सामान्यत एव द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नं प्रति विजातीयसंयोगनाशत्वेन हेतुत्वकल्पनात्, असमवायिकारणत्वं च जन्यद्रव्यजनकतावच्छेदकतया सिद्धः संयोगनिष्ठो जातिविशेषः। न च संयोगकर्मजन्यतावच्छेदकजातिभ्यामभिघातत्वनोदनत्वाभ्यां च

लिङ्गोपहितलैङ्गिकमाने लाघवं तद्ग्राह्युक्तमुपदर्श्यापाकृतम्, लिङ्गोपहितलैङ्गिकमानवादसमाप्तिः, द्रव्यनाशकारणविचारः तत्र प्राचीनमतस्य खण्डनम् ॥

परापरभावानुपपत्तेस्तत्र मानाभावः, तासामेतद्व्याप्यत्वोपगमात् । न च विनिगमकाभावो, द्रव्यजनकतावच्छेदजातेर्नोदनत्वादिव्याप्यत्वे हि तदाश्रयजन्यद्रव्ये हि जातिविशेषो वाच्यः, सोऽपि विशेषो घटत्वपटत्वादिना सङ्करभिया तद्व्याप्यः स्वीकार्य इत्यनन्तकार्यकारणभावापत्तेरभिघातत्वादीनां नानात्वे च कर्मादिनिष्ठतज्जनकतावच्छेदकजातिचतुष्टयमात्रस्यैव कल्पनाद्" इत्याहुः । यत्तु "कर्मज एव संयोगो द्रव्यहेतुः परमाणौ त्रसरेणौ वा संयोगजसंयोगासम्भवस्य विनिगमकत्वाद्" इति, तच्चिन्त्यम् । तथापि तज्जातेरभिघातत्वादिना साङ्कर्यावारणात्, असमवायिकारणत्वमखण्डमेवेति पुनरविचारितं वचः, असमवायिकारणनाशत्वस्य समवायिकारणासमवायिकारणनाशयोर्जनकतावच्छेदकस्यैव वाऽखण्डत्वौचित्यात् ॥

अत्र स्वतन्त्राः "द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नं प्रति समवायिकारणासमवायिकारणनाशयोरेवैकशक्तिमत्त्वेन हेतुत्वम् । एकावयवनाशोत्पत्तिसमये यत्रावयवान्तरे द्रव्यान्तरसंयोगविभागोत्पत्तिस्तत्र तदधीननानावयविसंयोगादिकल्पनामपेक्ष्यैकस्याः शक्तेः कल्पनाया एव समुचितत्वाद्" इत्याहुः, तच्चिन्त्यम् । उक्तगौरवस्य फलमुखत्वेनादोषत्वात् । अन्यथा नाशत्वावच्छिन्नं प्रत्येवैकशक्तिमत्त्वेन हेतुत्वप्रसङ्गात् । अपि च प्रसिद्धरूपेण हेतुत्वपरित्यागे सर्वत्रैवान्यतमत्वादिना तत्त्वप्रसङ्गः ॥

गुरुचरणास्तु " विजातीयसंयोगनाशस्य द्रव्यनाशत्वं जन्यतावच्छेदकं मूर्तनाशत्वादिकं वेतिविनिगमनाविरहात्स्वाश्रयसमवेतत्वकालिकोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वमेव तथेति न जन्यद्रव्यमात्रस्यासमवायिकारणनाशनाश्यत्वम् । न चैवं समवायिकारणनाशस्य हेतुत्वान्तरकल्पने गौरवम्, प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्वकालिकोभयसम्बन्धेन नाशकनाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन नाशत्वेन हेतुतायाः क्लृप्तत्वात्, तयैव समवायिकारणनाशस्य द्रव्यना-

द्रव्यनाशकारणविचारे नव्यानां मतं, तत्रासमवायिकारणत्वस्य जातित्वव्यवस्थापनं तत्प्रतिक्षेपकयुक्तेरपाकरणं, स्वतन्त्राणाम्मतस्य खण्डनं गुरुमतोपदर्शनञ्च ॥ ॥ २४ ॥

शकत्वानिर्वाहाद्" इत्याहुः, तच्चिन्त्यम्। द्रव्यत्वविशिष्टप्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्नं प्रत्येव तद्धेतुत्वात्। द्रव्यत्ववि-
शिष्टप्रतियोगिताया एव च मूर्त्तत्वविशिष्टत्वाच्च विनिगमनाविरहः। अथ परमाण्वादिषु पूर्वपूर्वासमवायिकारणनाशसत्त्वात्
द्व्यणुकादेः क्षणिकत्वापत्तिवारणाय तत्तद्द्रव्यनाशं प्रति तत्तत्संयोगनाशत्वेनैव हेतुत्वात्सामान्यतो हेतुत्वे मानाभाव इति चेत्,
न, यत्र विभक्तावयवकघटादिनाशस्थले नासमवायिकारणनाशान्तरं तत्र सामान्यतो हेतुतयैवोपपत्तौ विशिष्य हेत्वन्तरा-
कल्पनात्। कार्यकारणभावान्तरकल्पनापेक्षया कपालादिनाशोत्तरं कलशादिनाशे क्षणविलम्बकल्पनाया एव समुचितत्वात्॥

वस्तुतस्तु प्रतियोगितया द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिजन्यतासम्बन्धेनैव विजातीयसंयोगनाशस्य हेतुत्वाच्च
द्व्यणुकादेः क्षणिकत्वापत्तिरितिदिग्॥ इति द्रव्यनाशहेतुताविचारः (वादः)॥ तृतीयो वादः समाप्तः॥ ३॥

(४) सुवर्णं तैजसमिति नैयायिकाः, नेत्यन्ये, 'तत्र सुवर्णं तैजसं न वा' इति विप्रतिपत्तौ सामानाधिकरण्येन विधिको-
टिः, अवच्छेदकावच्छेदेन च निषेधकोटिरिति न बाधसिद्धसाधने। केचित्तु "नैमित्तिकद्रवत्वं पृथिव्यतिरिक्तवृत्ति नवा" इत्या-
दिविप्रतिपत्तिमाहुः। अत्र नैयायिकाः, तैजसं सुवर्णं, अत्यन्तानलसंयोगे सति अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात्, न चां-
शतो बाधः, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितौ तस्याप्रतिबन्धकत्वात्। न च पीतभागे व्यभिचारः, तस्याद्रुतत्वात्। पीतं
द्रुतमिति प्रतीतेर्जलमध्यस्थमषीक्षोदादेरिव परम्परया द्रवत्वविषयत्वात्, अन्यथा तद्द्रवत्वस्यात्यन्तानलसंयोगेनोच्छेदप्रसङ्गात्।
अत्यन्तानलसंयोगस्य पार्थिवद्रवत्वोच्छेदकत्वनियमात्। अथात्यन्तत्वस्यान्यस्य दुर्वचत्वेन विजातीयाग्निसंयोगस्यैव द्रवत्वो-
च्छेदकत्वात् तदभावादेव नोपष्टम्भकद्रवत्वोच्छेद इति चेत्, न, एकयैव क्रियया द्रुतपीततदन्तर्न्यस्तघृतयोर्द्रवत्वोच्छेदकविजा-

द्रव्यनाश-हेतुताविचारसमाप्तिः, सुवर्णतैजसत्वविवादाऽऽरम्भः, तत्र विप्रतिपत्तिः, नैयायिकस्य सुवर्णतैजसत्वानुमानम्॥

तीयसंयोगजनने तत्रैकक्रियाजन्यतावच्छेदाथ तत्सत्त्वाभ्युपगमस्यावश्यकत्वात्। अथ विजातीयद्रवत्वमेव तन्नाश्यम्, न तु पार्थिवद्रवत्वमिति चेत्, न, पृथिवीजन्यतावच्छेदिकाया एव जातेस्तन्नाश्यतावच्छेदकत्वात्, जात्यन्तरकल्पने गौरवात् ॥

वस्तुतस्तु पार्थिवद्रवत्वोच्छेदं प्रति संयोगविशेषत्वेन विरोधिताऽपि, कथमन्यथा न क्वथ्यमानजलस्थघृतद्रवत्वोच्छेदः, इत्यसति विरोधिसम्बन्धे इतिविशेषणावश्यकत्वात् तत्र द्रवत्वसत्त्वेऽपि न व्यभिचारः। एवञ्च पीतं द्रुतं इति प्रतीतेः साक्षात्सम्बन्धेनाऽपि प्रमात्वं समर्थितम्। तत्र विरोधिसम्बन्धसत्त्वे किं प्रमाणमिति चेत्, 'द्रवत्वाधिकरणं पीतं द्रवत्वोच्छेदप्रतिबन्धककिञ्चित्संयोगवत्, अत्यन्ताग्निसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधारपार्थिवत्वात्, क्वाथ्यमानजलमध्यस्थितघृतवद्,' इत्यनुमानमित्यवेहि। न चैवं तद्द्रवत्वोच्छेदप्रतिबन्धकसंयोगशालितया जलमेवास्तु तत्, सांसिद्धिकद्रवत्वाभावात्, नापि पृथिवी, तद्द्रवत्वोच्छेदप्रतिबन्धकस्याऽपि गवेषणीयत्वापत्तेः। अथ मिथ एवास्तु तत्प्रतिबन्धकत्वमभिभूतरूपानुद्भूतस्पर्शतेजोऽन्तरकल्पने गौरवात्, न चापार्थिवद्रवत्वेनैव तत्प्रतिबन्धकत्वान्नैवमिति वाच्यम्। एवं सति द्रुतसुवर्णसंयोगेन घृतद्रवत्वोच्छेदानापत्तेः, संयोगविशेषेणापार्थिवद्रवस्य तथात्वे तु तस्यैव तत्त्वौचित्यात्, किञ्च द्रुतद्रुततरादिप्रतीतेः सुवर्णेऽपकृष्टद्रवत्वनाशे उत्कृष्टद्रवत्वस्वीकारात् द्रवत्वानुच्छेदोऽप्यसिद्धः, अपकृष्टोत्कृष्टत्वे च न जाती, येन चरमप्रथमावर्तिन्योस्तयोरान्तरालिकवृत्तित्वेन साङ्कर्यमाशङ्क्येत, उत्कर्षापकर्षयोर्वा विजातीयाग्निसंयोगजन्यतावच्छेदकत्वं न विनिगन्तुं शक्येत, किन्तु 'स्वाव्यवहितोत्तरत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन द्रवत्वविशिष्टं द्रवत्वमुत्कृष्टम्' अन्यच्चापकृष्टमिति। न च विजातीयाग्निसंयोगनाश्यतावच्छेकत्वेनापकर्षजातिरावश्यकी, अनपकृष्टस्यापि तन्नाश्यत्वात्, स्वसामानाधिकरण्यावच्छिन्नस्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन विजातीयाग्निसंयोगस्य प्रति-

सुवर्णतत्त्वविचारे सुवर्णतैजसत्वानुमाने पार्थिवद्रवत्वोच्छेदप्रतिबन्धकसंयोगविशेषानुमानं द्रवत्वोत्कर्षापकर्षयोर्जातित्वमपाकृत्य स्वरूपदर्शनम् ॥

॥ २५ ॥

योगितया विजातीयद्रवत्वनाशहेतुत्वाच्च द्वितीयादिद्रवत्वानां क्षणिकत्वापत्तिः । केचित्तु "निमित्तनाशनाश्यत्वमेव नैमित्तिकद्रवत्वस्येति प्रतियोगितया विजातीयद्रवत्वनाशे स्वप्रतियोगिजन्यतासम्बन्धेन विजातीयसंयोगनाश एव हेतुः, उत्पत्तिसम्बन्धेन विजातीयाग्निसंयोगस्य तज्जनकत्वाच्च न विनश्यदवस्थाग्निसंयोगजन्यस्य तस्य क्षणिकत्वापत्तिः" इत्याहुः, तच्चिन्त्यम् । अथ द्रवत्वोच्छेदकाग्निसंयोगस्य द्रवत्वान्तरोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वादाश्रयनाशादेव स्वर्णद्रवत्वनाशः, अत एव तीव्रानलसंयोगादपकृष्टस्वर्णनाशादुत्कृष्टस्वर्णस्यैवोत्पत्तिरिति द्रुतद्रुततरादिप्रतीतेर्नानास्वर्णविषयत्वं, न च नानाश्रयाणां नाशकताकल्पने गौरवम्, स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशत्वनाशत्वावच्छिन्नं प्रति नाशत्वेन सामान्यत एव हेतुतायाः क्लृप्तत्वात्, तथा चाग्निसंयोगित्वे सति तद्धेतुकनाशप्रतियोगित्वादिति हेत्वर्थ इति चेत्, न, हैय्यङ्गवीनस्यापि द्रुतद्रुततरादिप्रतीत्या तथात्वेन तथापि व्यभिचारात्, तस्मान्नानाश्रयध्वंसोत्पत्तिकल्पनागौरवात् पार्थिवत्वाविशेषेऽपि स्वर्णतदितरद्रवपार्थिवयोरुत्तरोत्तरद्रवत्वसामग्रीसमवधानासमवधानाभ्यामेव तदुच्छेदानुच्छेदावित्युचितमिति चेत्, अत्र ब्रूमः॥ उपष्टम्भकपीतेतररूपप्रतिबन्धकसंयोगशालित्वादेव तस्य तेजस्त्वं विजातीयतेजःसंयोगत्वेन शक्तिविशेषवत्तेजःसंयोगत्वेन वा पाकजपीतेतररूपप्रतिबन्धकत्वात् पीतादौ विजातीयाग्निसंयोगहेतुत्वकल्पनया लाघवात् ॥ एतेन "द्रवद्रवत्वेन पीतेतररूपविरोधित्वे द्रुतस्वर्णमध्यवर्तिपीतपटरूपपरावृत्त्यनुपपत्तिः, उपष्टम्भकाख्यसंयोगेन तथात्वे जलाद्यसाधारण्यं, घृतादौ जलादेरनुपष्टम्भकत्वाद्रजतादौ शुक्लादिरूपानुपपत्तिश्च, तैजसस्वर्णत्वादिनैव पृथग्विरोधित्वे तु पार्थिवस्वर्णत्वादिनैव तथात्वमुचितम्" इति प्रत्याख्यातम् । यदि तु विजातीयसंयोगत्वेन शक्तिविशेषवत्संयोगत्वेनैव वा तथात्वमस्तु उपष्टम्भकगगनसंयोगस्यैव पीतेतररूपप्रतिबन्धकत्वादिति विभाव्यते, विभाव्यते

नैमित्तिकद्रवत्वस्य निमित्तनाशनाश्यत्वमेवेतिमतोपदर्शनं, सुवर्णस्य पार्थिवत्वमाशङ्क्य तत्प्रतिविधाने पीतेतररूपप्रतिबन्धकसंयोगेन तत्साधनम् ॥

च नैमित्तिकद्रवत्वत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेनैव हेतुता, विजातीयद्रवत्वत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेन विजातीयद्रवत्वत्वावच्छिन्नं प्रति च तेजस्त्वेन हेतुताद्वयकल्पने गौरवात्, तदास्तु पार्थिवमेव स्वर्णमिति दिग्॥ इति सुवर्णातैजसत्ववादः ॥४॥

(५) अन्धकारो भाव इति तौतातिताः,नेति नैयायिकादयः,तत्र परेषामयमाशयः, तमो द्रव्यं, रूपवत्त्वात्, घटवत्, न च हेत्वसिद्धिः, तमो नीलमितिप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्। न चासौ भ्रमो, बाधकाभावात्। न चोद्भूतरूपवत्त्वमुद्भूतस्पर्शव्याप्यं इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणारोपेणैव तत्प्रभायां नीलधीनिर्वाहाद्गौरवादेव न कल्प्यत इति न तत्र व्यभिचारः, कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारः, तत्रापि स्मर्यमाणारोपेणैव पीतधीनिर्वाहाद्बहिष्पीतद्रव्याकल्पनात्, बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टाऽनुद्भूतरूपभागान्तरेणैवोपपत्तेरिति वाच्यम्। तादृशव्याप्तौ मानाभावात्, प्रभायां व्यभिचाराच्च। न चोद्भूतनीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यम्, न च धूमे व्यभिचारः, तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वात्, अत एव तत्सम्बन्धाच्चक्षुषो जलनिपात इति वाच्यम्। चक्षुर्धूमसंयोगत्वेनैवाश्रुपातजनकत्वाद्धूमे उद्भूतस्पर्शासिद्धेः, नीलत्रसरेणौ व्यभिचाराच्च। न च पाटितपटसूक्ष्मावयव इव तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानम्। अनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूपजनकताया इवानुद्भूतस्पर्शस्यापि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवात् दृष्टान्तासम्प्रतिपत्तेः, अपि च त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पार्शनप्रसङ्गः। द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाभावान्नायं दोष इति चेत्, न, तादृशप्रकर्षस्यैकत्वेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात्। अथैकत्वे तादृशजातिकल्पने द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतैकत्वनिष्ठजात्या साङ्कर्यमेव विनिगमकमिति चेत्, तथापि सा जातिर्महत्त्वे कल्प्यतां इयं त्वेकत्वे इत्यत्रैव विनिगमकमन्वेषणीयम्॥

तत्र पृथ्वीत्वेनैव हेतुत्वं व्यवस्थापितं तदुपसंहारः, तमोविचारे तमोभाववादिमीमांसकाशयोपवर्णनम्॥

॥ २६ ॥

अथ द्रव्यान्यस्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन त्वाचाभावस्य प्रतिबन्धकत्वात् त्रसरेणोरस्पार्शनत्वादेव न तद्वृत्तिस्पर्शस्पार्शनप्रसङ्ग इति चेत्, न, उद्भूतस्पर्शाभावस्य प्रतिबन्धकत्वेन तत्राऽनुद्भूतत्वकल्पनस्यैवौचित्यात्। "त्रुटितत्स्पर्शौ गृह्येते इति" केचित्, तन्न, विवेकस्यानिर्वचनात्। यत्तु "नीलरूपवत्त्वे तमसः पृथिवीत्वापत्तिः, नीलत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेन हेतुत्वात्" इति, तन्न, अवयवनीलादिनैवाऽवयविनीलाद्युपपत्तौ पृथिवीत्वेन तत्समवायिकारणत्वाभावात्, जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेव स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवनीलादिमति रूपादौ नीलाद्यनुपपत्तेः, "नीलविशेष एव पृथिवीतमसोः समवायिकारणत्वं रसविशेष इव पृथिवीजलयोः, अन्यथा रसत्वावच्छिन्नं प्रति जलत्वेन समवायिकारणत्वाद्रसवत्याः पृथिव्या जलत्वापत्तेः" इत्यन्ये॥ यत्तु "एवमनुष्णाशीतस्पर्शत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वेन हेतुत्वाद्वायोः पृथिवीत्वापत्तिः" इति, तन्न, शीतोष्णेतरस्पर्शत्वरूपस्य तस्य संशयत्ववदर्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वात्॥

वस्तुतः पृथिवीतमःसाधारणजातिविशेषेणैव नीलत्वावच्छिन्नं प्रति समवायिकारणत्वमुचितम्, अन्यथोक्तरीत्या कार्यकारणभावद्वयजातिद्वयकल्पनागौरवादिति ध्येयम्। अथ तमसो जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्वं स्यात्, स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वादिति चेत्, न, स्पर्शवत्त्वादेर्विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहेण तेन रूपेणाहेतुत्वात्, अनन्त्यावयवित्वस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितत्वाच्च। वस्तुतश्चक्षुराद्यवयवेष्वनुद्भूतस्पर्शानभ्युपगमे जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेनाभ्युपेयः, स तु तमोऽवयवेष्वपि सम्भवीति नानुपपत्तिः, न च द्रव्यानारम्भकत्वान्यथानुपपत्त्यैव तत्रानुद्भूतस्पर्शाङ्गीकार इति वाच्यम्, अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य लघुभूतैकजातिकल्पनाया एवोचितत्वात्, तादृशजातेरन्त्यावय-

तमसि मीमांसकाद्यु- पवर्णिते त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वं, त्रुटितत्स्पार्शनस्य, नैल्येन पृथ्वीत्वापत्तेः, द्रव्यत्वे च स्पर्शवदवयवारभ्यत्वापादनस्य च खण्डनम्॥

विन्यप्यभ्युपगमाच्च जलत्वादिना साङ्कर्यं, घटत्वादिना घटादेर्द्रव्यं प्रति प्रतिबन्धकत्वाच्च नान्त्यावयविनि द्रव्योत्पत्तिः । "मूर्तत्वेनैव द्रव्यारम्भकत्वं,न च मनसोऽपि मूर्तत्वात्तदारम्भकत्वप्रसङ्गो, मनोऽन्यमूर्तत्वेनैव तथात्वाद्" इत्येके। "मूर्तत्वेनैव तथात्वं मनसि द्रव्यानुत्पत्तिस्तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराभावाद्" इत्यपरे। यत्तु "द्रव्यारम्भकतावच्छेदकतया पृथिव्यादि-चतुर्ष्वेव भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते, स एव च भूतपदशक्यतावच्छेदकः, आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भाक्त इति", तन्न, मनसोऽनतिरिक्तत्वनये भूतमूर्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेः, वेदादावाकाशादौ प्रयुक्तभूतपदमुख्यत्वाय बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेष-गुणजातीयगुणवत्त्वस्य गुरुणोऽपि भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वात्, अन्यथा पशुपदादेरपि गोत्वादिविशिष्ट एव शक्यतापत्तेः ॥

स्वतन्त्रास्तु "एकत्वनिष्ठ एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषः कल्प्यते,स चान्त्यावयव्येकत्वव्यतिरिक्त एवेति न तद्व-दन्त्यावयवित्वेनानन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवम् । न च तस्य जन्यैकत्वत्वेन समं साङ्कर्यं, तद्व्याप्यजन्यैकत्वत्व-स्य भिन्नत्वात्कार्यतावच्छेदकाननुगमस्यादोषत्वाद्" इत्याहुः ॥ अत्र वदन्ति तमसो द्रव्यत्वे आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वं न स्यात्, द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकसंयोगत्वेन हेतुत्वात्, न चालोकचाक्षुषे व्यभिचारः, तत्राप्यालोकगगनसंयोगस्य सत्त्वात्, न चैवं बहलतमे तमसि सुवर्णसाक्षात्कारापत्तिः, महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेन तद्धेतुत्वात् । न चैकावच्छेदेनालोकसंयोगवत्यपरावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाच्चाक्षुषापत्तिः, चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगस्य तथात्वा-त् । न च पेचकादिचाक्षुषे व्यभिचारः, चैत्रीयद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चैत्रचक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसं-योगत्वेन तथात्वात् । न चाञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषश्चैत्रस्य चाक्षुषे व्यभिचारः, आलोकस्येवाञ्जनादेरपि स्वाव्यवहितोत्तर-

प्रसङ्गागत-द्रव्यारम्भकत्वविचारे मनोऽन्यमूर्तत्वेन मूर्तत्वेन वा तत्त्वमिति मते भूतत्वविचारः स्वतन्त्राणां मतं, तमोऽभाववादिनैयायिकमतप्रदर्शनारम्भश्च।

चाक्षुषं प्रति हेतुत्वे व्यभिचाराप्रचारात् । यत्तु “फलबलात्पेचकादिचाक्षुषहेतुरप्यालोकविशेष एव कल्प्यते” इति, तन्न, तदालोकेनान्येषामपि तमसि चाक्षुषापत्तेर्दुर्वारत्वात् । पेचकादिनयनगोलकसंसृष्टालोकस्य पेचकाद्यन्यचाक्षुषं प्रति नानाप्रतिबन्धकत्वकल्पने च महागौरवादिति ॥ अत्रेदं चिन्त्यते ॥ चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगस्यालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्य वा चाक्षुषहेतुत्वमिति विनिगमनाविरहः । स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धेनाऽऽलोकसंयोगस्य तथात्वेऽपि स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगस्य तथात्वे स एव दोषः । अथ द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयताद्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतादिसम्बन्धभेदेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगतत्संयुक्तसमवायादेर्नानाहेतुताकल्पने गौरवात्समवायेन लौकिकविषयतादिविशेषवच्चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन कारणता । चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्त्र(त्व)वच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे तु स्फुटमेव गौरवमिति चेत्, न । उक्तसम्बन्धेन तमःसंयोगाभावस्य तथात्वे बाधकाभावात्, आलोकं विना पेचकादिचाक्षुषोदयाद्विषयनिष्ठतयैव चैत्रादिचाक्षुषे तद्धेतुतावश्यकत्वाच्च । यत्तु “तमोऽभावत्वेन न हेतुताऽपि त्वालोकत्वेन लाघवात्” इति, तन्न, महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकत्वापेक्षया महत्तमोऽभावत्वस्य लघुत्वात् । तमसो द्रव्यत्वे प्रौढालोकमध्ये सर्वतो घनतरावरणे सति तमो न स्यात्, तेजोऽवयवेन तत्र तमोऽवयवानां प्रागनवस्थानात्सर्वतस्तेजःसङ्कुले चान्यतोऽप्यागमनासम्भवादिति वर्धमानोपाध्यायाः ॥

पेचकादिचाक्षुषे आलोकविशेषकारणत्वपक्षस्य खण्डनं, चाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगकारणत्वासंभवाशङ्कायाः प्रतिविधानं वर्धमानमतदर्शनञ्च ॥

वस्तुतो गन्धसमवायिकारणतावच्छेदिकयैव नीलसमवायिकारणतावच्छेदात्तमसो नीलरूपवत्त्वे गन्धवत्त्वप्रसङ्गः, अपि चालोकाभावेनैव तमोव्यवहारोपपत्तेर्नानाद्रव्यतत्प्रागभावप्रध्वंसादिकल्पने गौरवम् । अथाभावत्वे तमसस्तेजोज्ञानं विना तज्ज्ञानं न स्यात्, अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वादिति चेत्, सत्यम्, आलोकं जानतामेव तमःप्रत्यक्षस्वीकारात्, तदाहुराचार्याः "गिरिदरीविवरवर्त्तिनो यदि योगिनो न ते तिमिरावलोकिनः, तिमिरावलोकिनश्चेन्नूनं स्मृतालोका" इति ।

॥ २८ ॥ नव्यास्तु "अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं न हेतुः,प्रमेयत्वादिनाऽभावग्रहेऽभावत्वसामान्यलक्षणाधीनप्रत्यक्षे च व्यभिचारात्, नाऽपि तदभावलौकिकप्रत्यक्षे तज्ज्ञानं हेतुः, घटघटध्वंसादिप्रतियोगिकघटात्यन्ताभावस्यापि समनियतैकत्वपरिमाणाद्यभावस्य चैकप्रतियोगिमात्रग्रहेऽपि ग्रहात्, प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रतियोगिनिश्चयत्वेन हेतुता तु विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयत्वेन हेतुतां नातिशेते, अत एव प्रतियोग्यग्रहेऽपि इदन्त्वेन तमःप्रत्यक्षं नानुपपन्नं । न चैवं प्रथममभावाभावत्वयोर्निर्विकल्पकेऽभाव इत्याकारकप्रत्यक्षापत्तिः, शून्यमिदं दृश्यत इत्यादिप्रत्ययादभावत्वमात्रेण प्रत्यक्षस्येष्टत्वात्,अस्तु वाऽभावत्वप्रत्यक्षे योग्यधर्मावच्छिन्नज्ञानत्वेन हेतुत्वम्" इत्याहुः,तच्चिन्त्यं,योग्यधर्माणामननुगमात्,घटत्वाद्यन्यतमत्वेन तदनुगम इति चेत्, न, अतिगौरवात्, अपि चैवं केवलाभावनिर्विकल्पकापत्तिः, इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया घटो नास्तीति प्रत्यक्षत्वं कार्यतावच्छेदकमिति चेत्, न, इन्द्रियत्वस्य चक्षुस्त्वगादिभेदभिन्नत्वेनातिगौरवात्, घटत्वावच्छिन्नप्रकारत्वान्यप्रकारत्वानिरूपिताऽभावविषयताकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति घटत्वावच्छिन्नज्ञानत्वेनैव हेतुत्वादभावांशे निर्विकल्पकस्याभाव इत्याकारकप्रत्यक्षस्य च निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेकाक्रान्ततयैव यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञानेऽसम्भवात्,

तमसो नैल्ये दोषोद्भावनं, तमोद्रव्यकल्पने गौरवं, आलोकज्ञाने सत्येव तमःप्रत्यक्षमित्युदयनाचार्यमतं, नव्यमतखण्डनं च ॥ २८ ॥

यावत्प्रतियोगिज्ञानस्य चासम्भवादिति । अथ यत्किञ्चित्प्रतियोगिधीसाध्यस्याऽभावांशे यत्किञ्चित्प्रतियोगिविशिष्टविषयस्याऽभावत्वांशे निर्विकल्पकस्याभ्युपगमेऽपि केवलाभावत्वनिर्विकल्पकापत्तिरिति चेत्, न, केवलाभावत्वनिर्विकल्पकत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वेन तदवच्छिन्नापत्तेरभावात् । वस्तुतोऽभावत्वमपि भावभेद एवेति शुद्धतन्निर्विकल्पकस्य निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकाक्रान्ततयैव नापत्तिरिति । अत एवेदन्त्वेन तमःप्रत्यक्षमप्यनुपपन्नमिति । इदन्तु प्रतिभाति, यदि चक्षुःसम्बद्धविशेषणतायाः प्रतियोगिताऽवच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्षत्वं तादृशाभावत्वविशिष्टविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वमेव वा कार्यतावच्छेदकं, कोटिप्रतियोगिज्ञानकारणताकल्पनापेक्षया लाघवात्, घटादिविषये लाघवात्क्लृप्तमेव घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविषयताकप्रत्यक्षत्वं कार्यतावच्छेदकम्, उक्तसन्निकर्षहेतुतयैव शुद्धाभावप्रत्यक्षाद्यापत्तेरभावादिति, 'नात्रालोकः किन्त्वन्धकार' इति व्यवहारस्तु 'नात्र घटः किन्तु तदभाव' इतिवद्विवरणपरतया समर्थनीयः, तमसोऽभावत्वे उत्कर्षापकर्षाभावादन्धतमसत्वाऽवतमसत्वादिकं न स्यादिति चेत्, न, महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजसामभावेऽन्धतमसत्वस्य कतिपयतदभावे चावतमसत्वस्य स्वीकारात् । अस्तु वान्धतमसावतमसत्वादिकमखण्डोपाधिरेव, अतः कतिपयतदभावो नावतमसं, दिवा प्रकृष्टालोकेऽपि तत्सत्त्वात् । न च छायायामतिव्याप्तिवारणाय स्वन्यूनसङ्ख्यबाह्यालोकसंवलने सतीतिविशेषणदानावश्यकत्वात्तदानीं च बाह्यालोकस्य स्वाधिकसङ्ख्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति वाच्यम् । तद्दिनातिरिक्तानन्तदिनवृत्तिबाह्यालोकाभावानामेवाधिकत्वादित्याद्युक्तावपि न क्षतिः । संयोगसंयुक्तसमवायादिनानासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनानालोकाभावनिष्ठं तमस्त्वमप्यखण्डमेकमेव, तेन "प्रकृष्टालोकेऽपि रूपादौ संयोगेनालोकाभावसत्त्वा-

अन्धकार-
विचारेऽभ्या-
यमतोपद-
र्शनेऽभाव-
त्वनिर्विक-
ल्पकापत्तेर-
पाकरणं,त-
मसोऽभाव-
त्वेउत्कर्षा-
पकर्षाभावे-
ऽप्यन्धतम-
सावतम-
सत्वादेरुप-
पादनम् ॥

न्धकारव्यवहारापत्तिः, न वा नानालोकाभावेष्वनुगततमोव्यवहारानुपपत्तिः, न वा इदं तम इतिप्रतीतावपि तत्र भावत्वाभावत्वसंशयानुपपत्तिः, इदन्त्वावच्छेदेन तमस्त्वग्रहेऽप्यालोकाभावत्वाग्रहाद्" इति स्वतन्त्राः। "संयोगाद्यन्यतमसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकाभाव एक एव, अन्धकारत्वं च भाववृत्तित्वविशिष्टालोकाभावत्वम्, तेन नान्धकारेऽन्धकार इति प्रयोगापत्तिः, न वान्धकारे नान्धकार इति प्रतीतेर्भ्रमत्वम्" इत्यन्ये। प्राभाकरास्तु "आलोकज्ञानाभाव एव तमः, अत एवालोकवद्गर्भगृहं प्रविशतस्तमोधीः" इत्याहुः, तत्तुच्छं, एवं सत्यन्धकारवानहमिति प्रतीत्यापत्तिः, न च सम्बन्धविशेषेणालोकज्ञानाभाववत्येव तमःप्रतीतिनियमान्नायं दोष इति वाच्यम्। तथा सत्यालोकज्ञानाभाववानहमिति प्रतीतेरपि विलयापत्तेः। किञ्चैवं तमसश्चाक्षुषत्वं न स्यात्, ज्ञानाभावस्य मानसत्वात्, तथा च तमः पश्यामीति प्रतीतिः कथमुपपादनीया। ननु तमसोऽभावत्वे गतेः का गतिरिति चेद्, भ्रान्तिरित्यवेहि स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्तेः। अथात्यन्ताभावत्वे तमस उत्पत्तिविनाशप्रत्ययो भ्रमः स्यादिति चेत्, स्यादेव, " आलोकप्रागभावप्रध्वंसात्यन्ताभावसमुदायरूपस्य तमसः किञ्चित्समुदायिप्रागभावप्रध्वंसावेव समुदायप्रागभावप्रध्वंसप्रतीतिरवगाहते " इति तु प्राञ्चः। एवं नीलरूपवत्त्वधीरपि तत्र भ्रान्तैव, दोषस्तु तत्र तमःस्वरूपमेव, न चैवं पीतरूपाद्यारोपप्रसङ्गः, आरोपे हि सति निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः॥

इत्यन्धकारपदार्थविवेचनम्॥ पञ्चमो वादः सम्पूर्णः॥ ५॥

(६) वायुः स्पार्शन इति मीमांसकाः, तेषामयमाशयः, शीतो वायुर्वातीति वायुमुख्यविशेष्यकस्पार्शनप्रतीतेस्तस्य स्पार्शनत्वं निराबाधं, न चासौ न स्पार्शनी अपि तु मानसीति वाच्यम्। वातं स्पृशामीत्याद्यनुव्यवसायानुपपत्तेः, न चासौ भ्रमः,

तमोविचारे स्वतन्त्राणां मतं भाववृत्तित्ववि-शिष्टालोकाभावस्तमइतिमतं, प्रभाकरमतस्य च खण्डनं, गत्यादिप्रतीतेर्भ्रमत्वं, प्राचांमतं वादसमाप्तिश्च॥

बाधकाभावात्, न च द्रव्यचाक्षुषवद्द्रव्यस्पार्शनेऽप्युद्भूतरूपस्य हेतुत्वात् कारणाभाव एव बाधक इति वाच्यम्, प्रभा हि तेजसो रूपमितिनयेऽपि त्रसरेणुस्पार्शनवारणाय द्रव्यस्पार्शनं प्रत्युद्भूतस्पर्शस्य हेतुत्वावश्यकत्वे उद्भूतरूपस्य तत्राहेतुत्वात्प्रकृष्टमहत्त्वस्य तद्धेतुत्वे तत्प्रकर्षस्य कार्यमात्रवृत्तिजातित्वेन तदवच्छिन्नं प्रति कारणताकल्पने गौरवात्त्रसरेणावनुद्भूतस्पर्शस्वीकारस्यैवौचित्यात्। अथ मानसेतरद्रव्यलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छेदेनैवोद्भूतरूपस्य द्रव्यलौकिकचाक्षुषं प्रति हेतुत्वान्न वायोः स्पार्शनत्वमिति चेत्, न, आत्मेतरद्रव्यप्रत्यक्षत्वादिकमादाय विनिगमनाविरहात्, द्रव्यचाक्षुषत्वापेक्षया गौरवाच्च, तदवच्छिन्नत्वं प्रत्युद्भूतरूपस्याहेतुत्वात्। अथ मूर्तलौकिकप्रत्यक्षत्वद्रव्यलौकिकचाक्षुषत्वयोः समशरीरतया विनिगमकाभावादुभयमेवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकमिति चेत्, न, उक्तानुव्यवसायानुपपत्त्या मूर्तलौकिकप्रत्यक्षत्वस्य प्रकृष्टमहत्त्वस्यैवोद्भूतरूपस्यापि कार्यतानवच्छेदकत्वात्॥ यत्तु "मूर्तलौकिकप्रत्यक्षत्वं भगवत्प्रत्यक्षसाधारणं न कार्यतावच्छेदकमिति वाय्वादेः स्पार्शनं निराबाधम्"इति, तन्न, इन्द्रियादिजन्यतावच्छेदकत्वेन लौकिकत्वस्य जन्यप्रत्यक्षमात्रवृत्तित्वात्, "पश्यत्यचक्षुरित्यादेर्लौकिकचाक्षुषसमानाकारज्ञानपरत्वाच्चाक्षुषादेस्तत्रासम्भवाद्" इति केचित्॥ यदि तु परमाणुद्वित्वादिजनकतावच्छेदककोटिप्रविष्टा लौकिकी विषयता भगवज्ज्ञानसाधारणी, तदाऽस्तु मूर्तनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन जन्यप्रत्यक्षत्वमेवोद्भूतरूपजन्यतावच्छेदकं, समूहालम्बनगुणादिचाक्षुषे व्यभिचारवारणायोक्तसम्बन्धनिवेशस्यावश्यकत्वात्, जन्यप्रत्यक्षत्वं चेन्द्रियादिजन्यतावच्छेदकतया सिद्धा जातिरेवेति न गौरवम्। एतेन "द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वं सम्भवति, द्रव्यनिष्ठमूर्तनिष्ठलौकिकविषयतयोर्भेदाभावेन विनिगमनाविरहानवकाशात्, नतु मूर्तनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन

वायुस्पार्शनवादिमीमांसकाशयदर्शनं तत्र चाक्षुषेउद्भूतरूपं स्पार्शनेचोद्भूतस्पर्शः कारणं नत्वेकंरूपं तस्योभयसाधारणस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वखण्डनम् ॥

प्रत्यक्षत्वस्य, तस्य कार्याकार्यवृत्तित्वात्, जन्यप्रत्यक्षत्वस्य तथात्वे तु जन्यत्वस्य प्रध्वंसप्रतियोगित्वादिरूपस्य निवेशे गौरवं, जन्यत्वप्रत्यक्षत्वयोर्विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहश्च" इत्युक्तावपि न क्षतिरिति॥ केचित्तु "निश्चिताव्यभिचारकतया द्रव्यचाक्षुषत्वमेवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकं, नतु सन्दिग्धव्यभिचारकमूर्तप्रत्यक्षत्वम्" इत्याहुः॥ अत्र प्रतिविधीयते॥ मूर्तप्रत्यक्षत्वमेवोद्भूतरूपकार्यतावच्छेदकं, द्रव्यचाक्षुषत्वस्य तथात्वे गगनादिस्पार्शनवारणाय द्रव्यस्पार्शनं प्रत्युद्भूतस्पर्शत्वेन हेतुत्वे स्पर्शत्वप्रवेशे गौरवात्, अनुद्भूतत्वाभावकूटस्पर्शत्वयोर्विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहाच्च, मम तु स्पर्शनिष्ठानुद्भूतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकानुद्भूताभावकूटत्वेनैव हेतुता, गगनादौ रूपाभावादेव त्वाचापत्तेरभावात्। सामान्यसामग्रीमादायैव विशेषसामग्र्याः कार्यजनकत्वनियमात्। अथापेक्षाबुद्धिभेदेन कूटत्वस्य नानात्वान्न तादृशानुद्भूताभावकूटत्वेन हेतुत्वम्, अपि त्वनुद्भूतत्वाभावकूटस्पर्शत्वयोर्व्यासज्यवृत्त्यवच्छेदकतोपगमेनानुद्भूतत्वाभावकूटवत्स्पर्शत्वेनैव तथात्वमिति चेत्, तर्हि मूर्तप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति महत्त्वोद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वेन हेतुत्वमस्त्विति वायुप्रभादेः प्रत्यक्षत्वकथाप्युच्छिद्यते, स्पर्शरूपादिप्रत्यक्षेणैव तदनुमितिस्मृत्यादिसम्भवात्॥ इदन्तु ध्येयं॥ यद्यनुद्भूतस्पर्शासत्त्वे प्रभायाः स्पार्शनवारणाय द्रव्यस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति स्पर्शत्वेनैव हेतुतावश्यकी, व्यासज्यवृत्त्यवच्छेदकतानुपगमाच्च नोक्तरूपेण हेतुतेति विभाव्यते, तदा द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येवोद्भूतरूपस्य हेतुत्वान्न वाय्वादेरस्पार्शनत्वम्, अस्तु वा द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति द्रव्यस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति च शक्तिविशेषेणैव विषयस्य हेतुत्वं महत्त्वरूपयोर्महत्त्वस्पर्शयोश्च हेतुत्वापेक्षया शक्तिद्वयकल्पनाया एवोचितत्वात्। यत्तु "घटाकाशसंयोगद्वित्वादेः स्पार्शनवारणाय द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य प्रति-

वायुस्पार्शनत्वविचारेऽनुकूलप्रतिकूलमतप्रदर्शनं तदुपमन्तृन्यायमतवर्णनमत्रापि कारणत्वविशेषोपगमेन वायुस्पार्शनत्वस्वीकारः॥

न्वकत्वं कल्प्यते व्यासज्यवृत्तिगुणत्वाचत्वावच्छिन्नं प्रति तथात्वे गुणादित्वाचं प्रति प्रकृष्टमहत्त्ववदुद्भूतस्पर्शवत्समवायस्य पृथक्कारणत्वकल्पनापत्तेर्द्रव्यान्यसत्प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषाभावस्य तथात्वे च घटप्रभासंयोगादिस्पार्शनापत्तेर्दुर्निवारत्वादिति वायूष्मादेरस्पार्शनत्वे तद्वृत्तिस्पर्शादिस्पार्शनानुपपत्तिः, न च स्पर्शेतरद्रव्यान्यसत्त्वाचत्वं तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकं, स्पर्शेतरत्वप्रवेशे गौरवाद्, घटाकाशसंयोगादौ स्पार्शनसामान्यापत्तिवारणाय स्पर्शस्पार्शनं प्रति स्पर्शत्वेन परमाण्वादिस्पार्शनवारणाय प्रकृष्टमहत्त्वत्वेन चातिरिक्तकारणत्वकल्पनाप्रसङ्गादिति," तच्चिन्त्यम्। त्रसरेण्वादिघटितसन्निकर्षेण द्रव्यत्वादित्वाचप्रसङ्गवारणाय द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति त्वक्संयुक्तप्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शवत्समवायत्वेन प्रत्यासत्तित्वावश्यकत्वाद् द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वस्य प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वे घटाकाशसंयोगादौ जातिस्पार्शनवारणाय जातिस्पार्शनं प्रति जातित्वादिना हेतुत्वकल्पने गौरवाद्, व्यासज्यवृत्तिगुणनिष्ठविषयतया त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रत्येवोक्तप्रत्यासत्त्या त्वाचाभावस्य यावदाश्रयत्वाचस्य वा हेतुत्वात्। अत एव वायुघटसंयोगद्वित्वादेरस्पार्शनत्वं सङ्गच्छते॥ अथ द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति त्वक्संयुक्तत्वाचवत्समवायत्वेनैव हेतुत्वं महदुद्भूतरूपयोरुभयोः प्रवेशे गौरवात्, तथा च वाय्वादेरस्पार्शनत्वे कथं तद्वृत्तिस्पर्शादिस्पार्शनमिति चेत्, न, त्वाचत्वस्य विशेषणत्वे गुणगुणिनोर्युगपद्ग्रहणप्रसङ्गाद्, उपलक्षणत्वे च पाकजस्पर्शोत्पत्तिकालेऽपि स्पर्शादिग्रहणप्रसङ्गादेकस्यामेव व्यक्तौ कालभेदेनानन्तत्वाचसम्भवेन तत्र तावत्त्वाचनिवेशापेक्षया महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोरुभयोरेव निवेशौचित्यात्॥ स्वतन्त्रास्तु " द्रव्यस्पार्शनजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेः साङ्कर्यवारणाय द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्वस्वीकारात्कुतो वाय्वादेः स्पार्शनं प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयोर्द्रव्यस्पार्शनं प्रति

वायुस्पार्शनविचारे वायुस्पार्शनानभ्युपगन्तृनैयायिकमतोपदर्शनं, तत्रानेककार्यकारणभावतलाघवगौरवाद्युपदर्शनम् ॥

गौरवेणाहेतुत्वाद्, एकस्य विजातीयैकत्वे हि तत्त्वा(द्वैरूप्याभावा)द्, अथ त्रसरेणोश्चाक्षुषत्वाभ्युपगमेन द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेरेव द्रव्यस्पार्शनजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्वं किं न स्यादितिचेत्, तथाप्येकस्या एवैकत्वनिष्ठजातेर्द्रव्यचाक्षुषस्पार्शनोभयजनकतावच्छेदकत्वाच्च वाय्वादेः स्पार्शनत्वम्" इत्याहुः, तन्न, तादृशी जातिरेकत्वनिष्ठा स्वीकर्तव्या महत्त्वनिष्ठा वेति विनिगमनाविरहात्त्रुटावेव विश्रामे रूपत्वेन द्रव्यचाक्षुषं प्रति एकस्या एव हेतुताया अभ्युपगमे तज्जनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातौ मानाभावाच्च ॥ केचित्तु " स्पार्शनजनकतावच्छेदकवैजात्यव्यापकत्रसरेण्वेकत्वसाधारणवैजात्यस्य नित्यैकत्वसाधारणत्वे महत्त्वोद्भूतरूपयोः पृथक्कारणताद्वयकल्पनमावश्यकं निखिलतद्व्याप्यवृत्तित्वे च कार्यमात्रवृत्तिजातितया तदवच्छिन्नं प्रति कस्यचित्कारणत्वस्यावश्यकतया द्रव्यचाक्षुषं प्रत्येकत्वकारणतामादाय कारणताद्वयकल्पनमावश्यकं वैजात्यकल्पनं पुनरधिकम्" इत्याहुः ॥ इति वायुप्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वविचारः ॥६॥ षष्ठो वादः सम्पूर्णः ॥

(७) शब्दो नित्यः सोऽयं गकारः श्रुतपूर्वोऽयं गकार इतिप्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धेः।उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार इत्यादिप्रतीतेर्भ्रमत्वाद्, अन्यथाऽनन्तशब्दप्रागभावप्रध्वंसादिकल्पने गौरवाद्, एतेन "अनन्तोत्पत्त्यादिप्रतीतीनां भ्रमत्वमपेक्ष्य प्रत्यभिज्ञामात्रस्य तत्त्वकल्पने लाघवम्" इत्यपास्तम् । प्रत्यभिज्ञानामप्यानन्त्याच्च । ज्ञानबाहुल्ये विषयबाहुल्यस्याप्रयोजकत्वात् । अथ तारमन्दादिभेदेन गकारादेर्नानात्वावश्यकत्वात्कथं प्रत्यभिज्ञयैक्यसिद्धिस्तारत्वादीनां वायुगतत्वे च कत्वादेरपि तद्गतत्वापत्तिः । कत्वादेस्तद्गतत्वे शब्दवृत्तित्वेन भानं श्रावणं न स्यादिति चेत्, तारत्वादेरपि तद्गतत्वे तन्न स्यादिति तुल्यम्, गकारादौ तारत्वादेः परम्परयैव भानमिति चेत्, ककारादौ कत्वादेरपि तथैव भानमिति समानम् ॥

स्वतन्त्राणां वायुस्पार्शनत्वोपपादकमतस्य खण्डनं, वायुस्पार्शनविचारसमाप्तिः॥ शब्दनित्यत्वानित्यत्वविचारारम्भः, तत्र तन्नित्यत्ववादिमीमांसकमतम् । ॥ २१ ॥

एवं वायुवृत्तित्वे तस्य श्रावणमेव न स्याद्वायुस्पर्शादेरिव स्पार्शनं वा स्याज्जातित्वाचं प्रति कत्वादीनां प्रतिबन्धकत्वकल्पने च गौरवादित्युभयत्र समानमितिचेत्, न, तारमन्दशुकसारिकाचैत्रादिप्रभवभेदेनैव तस्य नानात्वाद्, अत एव 'गकारादेरेकत्वे शुकप्रभवत्वादिवैलक्षण्यभानं न स्याद्'इत्यपास्तम् ॥ यत्तु मीमांसकानां "चैत्रादेः स्वीयमैत्रशुकादिककारादेः प्रत्यक्षे चैत्रादिकर्णावच्छिन्नविजातीयवायुसंयोगा हेतवो वाच्या" इत्यतिगौरवं, नैयायिकानान्तु " अवच्छेदकतया चैत्रादिककारादौ विजातीयवायुसंयोगो हेतुस्तत्पुरुषीयनिखिलशब्दप्रत्यक्षे च तत्पुरुषकर्णावच्छिन्नसमवाय" इति लाघवमिति, तच्चिन्त्यम्, विजातीयवायुसंयोगस्य स्वावच्छेदकश्रोत्रसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन निखिलशब्दश्रावणं प्रति हेतुत्वे मीमांसकानामेवातिलाघवाद्, एतेन "जन्यत्वपक्षे विजातीयपवनसंयोगस्य कत्वं जन्यतावच्छेदकमिति लाघवं व्यङ्ग्यत्वपक्षे तु कप्रत्यक्षत्वं कश्रावणत्वादिकं वेति गौरवम्" इति निरस्तम्, "उक्तरीत्या सामान्यत एव हेतुत्वे क्लृप्ते कप्रत्यक्षत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति तदकल्पनात् स्वाश्रयविषयतासम्बन्धेन कत्वस्यैव तज्जन्यतावच्छेदकत्वसम्भवाच्च" इति मीमांसकानुयायिनः ॥

अत्रवदन्ति उत्पत्तिविनाशरूपवैधर्म्यज्ञानकालोत्पत्तिकाया उक्तप्रत्यभिज्ञायास्तज्जातीयाभेदविषयकत्वान्नैक्यसाधकत्वं,न चैवं तज्जातीयोऽयमिति स्यान्न तु सोऽयमितीति वाच्यम्। तद्वृत्तिजात्यवच्छिन्नभेदाभावस्य भेदाभावत्वेनैव भानात्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभावविषयकप्रत्यभिज्ञायास्तु भ्रान्तत्वमेव, अन्यथा तारमन्दादिनानावर्णेष्वपि तादृशप्रत्यभिज्ञादर्शनात्तेषामप्यैक्यप्रसङ्गात्। अपि चैवं घटादेरपि व्यङ्ग्यत्वापत्तिः घटसाधनताज्ञानेन दण्डादौ प्रवृत्तिदर्शनात्तस्य जन्यत्वे तु शब्दसाधनताज्ञानेन पुंसः कण्ठताल्वाद्यभिघातादौ प्रवृत्तिदर्शनात्तस्य जन्यत्वमेवेति॥इति शब्दनित्यत्वानित्यत्वविचारः॥७॥ श्रीवादमाला सम्पूर्णा॥

शब्दनित्यत्वानित्यत्वविचारे नित्यत्ववादिमीमांसकमतं, तत्खण्डनात्मकं शब्दानित्यत्ववादिनैयायिकादिमतं, वादमालासमाप्तिः ॥

॥ अथ न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिप्रणीतः श्रीअस्पृशद्गतिवादः ॥

अस्पृशद्गतिमतीत्य शोभते, सिद्ध्यतो न हि म(ग)तिः सुमेधसाम् ॥
इत्यखण्डतमपण्डपण्डिता-चारमण्डनमसावुपक्रमः ॥ १ ॥

इह हि केचिदतिस्थूलमतयोऽन्तरालप्रदेशस्पर्शनं विना कथमुपरिभागप्रदेशस्पर्शनसम्भव इति बम्भ्रम्यमाणाः सिद्धिगमनसमये स्पृशन्तीमेव गतिमभिमन्यन्ते, सूत्रोक्तां च सिद्ध्यतो गतेरस्पृशत्त्वामुभयपार्श्वप्रदेशास्पर्शनेन समर्थयन्ति, तेषां कामप्यपूर्वां वैदग्धीमाकलयामः। यत एवमुपरितनोपरितनप्रदेशस्पर्शनस्याधस्तनाधस्तनप्रदेशस्पर्शपूर्वकत्वनियमोपगमे समयबाहुल्यापत्त्या समयान्तरास्पर्शनोक्तिव्याघातः। तन्नियमानुपगमे चैकहेलयैवाखिलान्तरालिकप्रदेशास्पर्शनेनैव सिद्धिक्षेत्रावगाहनोपपत्तावस्मदभिमताभ्युपगमप्रसङ्गः। न चैकस्मिन्नपि समयेऽखिलान्तरालिकप्रदेशस्पर्शनं दण्डकरणवदुपपत्स्यत इति शङ्कनीयम्। तथा सति तदानीं तावतो दण्डस्यैव करणप्रसङ्गात्, "यावत्यैवावगाहनया जीवोऽवगाढस्तावत्यैव चोर्द्ध्वं गच्छति" इत्युक्तिव्याघातप्रसङ्गात्। इदमेव हि "उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई एगसमयेणं अविग्गहेणं उड्ढं गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ त्ति" प्रज्ञापना(पद ३६)सूत्रस्थले "अविग्रहेण विग्रहस्याभावोऽविग्रहस्तेन, एकेन समयेनास्पृशन् समयान्तरप्रदेशान्तरास्पर्शनेनेत्यर्थः। ऋजुश्रेणिं च प्रतिपन्नः, एतदुक्तं भवति। यावत्स्वाकाशप्रदेशेषु इहावगाढस्तावत एव प्रदेशान् ऊर्ध्वं ऋजुश्रेण्यावगाहमानो विवक्षिताच्च समयादन्यत्समयान्तरमस्पृशन् गत्वा, तथा चोक्तं आवश्यकचूर्णौ–"जत्तिए जीवोऽ-

वगाढो तावतियाए ओगाहणाए उज्जुगं गच्छइ न वंकं, बितियं च समयं न फुसति" । भाष्यकारोऽप्याह–"रिउसेढिं पडिवन्नो,समयपएसंतरं अफुसमाणो॥एगसमयेण सिज्झइ,अह सागारोवउत्तो सो" ॥३०८८॥ इत्यादि वृत्तिवचनममृतप्रायमपि निपीय समुत्पन्नस्य भ्रमविषस्य परमं भेषजमुत्पश्यामः। तावतामेव हि प्रदेशानामूर्द्ध्वमवगाहनयाऽऽन्तरालिकप्रदेशास्पर्शनस्य स्पष्टमुपपत्तेः। न च सिद्धिक्षेत्रावच्छिन्नप्रदेशस्पर्शनेनाऽप्यस्पृशत्त्वाव्याघातः, आन्तरालिकप्रदेशास्पर्शनेनैवास्पृशत्त्वाविवक्षणात्। तदिदमुक्तं वादिवेतालेन श्रीमता शान्तिसूरिणा (उत्तरा०२९अ०वृ०)–" अफुसमाणगइत्ति अस्पृशद्गतिरिति नायमर्थः यथा सर्वाना(नऽयमा)काशप्रदेशानस्पृशति, अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावत एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशमिति"अत्र हि स्वावगाहातिरिक्तप्रदेशास्पर्शनेनैवास्पृशत्त्वमुपपादितम्। इत्थमेवावश्यकचूर्णौ"जथा उज्जुसेढिपत्तो जत्तिए जीवो अवगाढो तावतिआए अवगाहणाए उड्ढं उजुगं गच्छइ,ण वंकं,अफुसेमाणगती बितियं समयं ण फुसति,अहवा जेसु अवगाढो जे अ फुसति उड्ढमवि गच्छमाणो तत्तिए चेव आगामपएसे फुसेमाणो गच्छति"इति॥ अत्र विवक्षाभेदाद् व्याख्यानभङ्गद्वयोपपत्तिः। यथाक्रमं सिद्धिक्षेत्रप्रदेशाऽऽन्तरालिकप्रदेशस्पर्शनाऽस्पर्शनविवक्षणात्। अत्र च प्रदेशापेक्षयाऽस्पृशत्ता प्राचि पक्षे उपसर्जनीकृता, उत्तरपक्षे च प्रधानीकृतेति विशेषः। न चैवं गौणमुख्यत्वाभ्यां व्याख्यानभेदोपपत्तिरदृष्टचरी ॥ नामाइतियं दव–ट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स॥ भावं चिय सद्दणया, सेमा इच्छंति सव्वनिक्खेवे॥७५॥ इत्यादिस्थले विशेषावश्यकादौ शतश एवं व्याख्यानभेदस्य दृष्टपूर्वत्वात्। हन्तैवम्–अस्पृशद्गतिरिति कोऽर्थः?, "स्वावगाहातिरिक्तनभःप्रदेशानस्पृशन् यावत्सु तेषु जीवोऽवगाढस्तावत एव समश्रेण्या स्पृशन्नित्यर्थः" इति नूतनवृत्तावपि को दोषः?। तावत एव इत्यत्र एवकारेणातिरिक्तव्य-

वच्छेदात्, समश्रेण्या इत्यनेन च सिद्धिक्षेत्रप्रदेशस्पर्शनस्यैव लाभादिति चेत्। नहि वयमेतदक्षरकाष्ठस्यैव पराकर्तारः किन्तु आन्तरालिकप्रदेशास्पर्शनाभिप्रायसारस्यैव। अथेदृगभिप्राय एवात्र कथमुदश्चेदिति चेत्, सोऽयमाशयितारं प्रत्येवानुयोगः शोभते, परमन्यत्रापि स्वावगाहभ्रान्त्यैवायं सम्भाव्यते, सा चाऽयुक्ता दण्डप्रसङ्गात् अस्पृशत्ताव्याघाताच्च। पार्श्ववर्तिप्रदेशास्पर्शनेनास्पृशत्तायां च स्पृशद्गतेरप्यस्पृशत्त्वापत्तिः। न हि योऽप्यानुपूर्व्या स्पृशन् गच्छति सोऽपि पार्श्वतोऽपि स्पृशतीति सम्भवति, अपि च स्पृष्ट्वा गच्छतः पार्श्ववर्तिप्रदेशास्पर्शनमसम्भवदुक्तिकमेव। षड्दिक्प्रदेशसमालिङ्गनेनैव क्षेत्रतः स्पर्शनाया विशेषात्। तथा च बभाषे भाष्यकारः। "एगपएसं खेत्तं,सत्तपएसा य से फुसणा।" इति॥ नन्वेवं "यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावत एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम्", इति वादिवेतालोक्तिरसङ्गता स्यात्, स्पर्शनायामवगाहनातः षड्दिक्प्रदेशाधिकस्यावश्यकत्वादिति 'अजामपनयतः क्रमेलकागम' न्यायापात इति चेत्, सत्यम्, अत्रावगाहनावच्छिन्नस्पर्शनायामेवातिरिक्तप्रदेशसम्बन्धाभावसमर्थने तात्पर्यात्, यतो "येष्ववगाढो यांश्च स्पृशति ऊर्ध्वमपि गच्छन् तावत एवाकाशप्रदेशान् स्पृशन् गच्छति" इत्यावश्यकचूर्णिकारवचनात् व्यक्तमेवेदं लक्ष्यते। अत्र हि स्वावगाहकस्पृष्टोभयप्रदेशावच्छेदेनैव सिध्यतः स्पर्शनं नियम्य अन्यत्र च स्पर्शनसामान्यवाचकपदेनाभिधीयमानायामवगाहनावच्छिन्नस्पर्शनायामतिरिक्तप्रदेशसम्बन्धाभावो नियम्यते इति। न चैवमवगाहनावच्छिन्नत्वेनान्तरालप्रदेशान् मास्प्राक्षीद्, अन्यथास्पर्शनशङ्का तु दुर्निवारेति वाच्यम्। ऋजुश्रेण्याऽन्तरास्पर्शनस्यावगाहननियतत्वात्। अस्तु वाऽतिरिक्तपदस्य 'अतिरिच्यते व्यवधीयते' इति व्युत्पत्त्या व्यवहितत्वमर्थः। न ह्यन्तरालस्पर्शनं विनाऽवगाहनाव्यवहितः प्रदेशः स्प्रष्टुं शक्यत इति, अयमेवार्थोऽस्पृश-

द्गतिरिति। कोऽर्थः "स्वावगाहातिरिक्तनभःप्रदेशानस्पृशन्नचिन्त्यया शक्त्या सिद्धिं गच्छति" इति विशेषावश्यकवृत्तावपि अयमेवाशयो द्रष्टव्यः। अपरापरपदस्यापि व्यवहितार्थलाक्षणिकत्वसम्भवात्। चूर्ण्यादिवचनसमर्थनाय चेयं सूक्ष्मेक्षिका। यदि च बहुश्रुता अपरथाऽपि समर्थयन्ति तदा नास्माकमाग्रहः। न च ग्रन्थकृदभिप्रायमविविच्य शून्यतामात्रेणावस्थानमपि हितावहमिति विभावनीयं सुधीभिः। "यत्र च सर्वोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावतः प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत् समयान्तरमस्पृशन् गच्छति। उक्तं च चूर्णौ जत्तिए जीवोऽवगाढो इत्यादि" मलयगिरिकृतकर्मग्रन्थटीकायाम्। तथा "साकारोपयोगोपयुक्त ऊर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानस्तस्मिन्नेव समये लोकान्तमुपैति" इति समयसारवृत्तौ। तथा "कर्मविमोक्षसमये यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावतः प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति उक्तं च चूर्णौ इत्यादि" मलयगिरिकृतावश्यकवृत्तौ। "एत्तो (अओ चेव) अफुसमाणगईए चेव गमणं उक्करिसविसेसओ इयं" इति पञ्चसूत्रे। अन्यत्राप्येतज्जातीयस्थलेऽत्रत्यतत्रत्यावगाहनयोरेव तुल्यत्वेनास्पृशत्त्वमुपपादितं वर्तते, तत्र तु न किमपि विवेचनीयमवशिष्यते। अत्रत्यतत्रत्यावगाहनस्पर्शनयोस्तौल्योक्तिश्च विवक्षामपेक्षत एवेति सूक्ष्ममीक्षणीयम्॥

अन्तरालप्रदेशस्पर्शनन्तु प्रवचनवचनस्य लेशमपि जानता न वक्तुं शक्यमिति दृढमवधारणीयम्। तथा चाऽऽचचक्षिरे 'उज्जुसेढीपडिवन्ने'—इत्याद्यौपपातिकोपाङ्गप्रतीकव्याख्यानावसरे श्रीमदभयदेवसूरयः। ऋजुः—अवक्रा, श्रेणिः—आकाशप्रदेशपङ्क्तिः, ताम् ऋजुश्रेणिं प्रतिपन्नः—आश्रितः। अफुसमाणगइत्ति—अस्पृशन्ती सिद्ध्यन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृ-

असस्पृशद्गतिवाद १६ प्रकरणम् ॥ ॥ ३४ ॥

शद्गतिः–अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च तत्रैक एव समयः य एव चायुष्कादिकर्मणां क्षयसमयः स एव निर्वाणसमयः, अतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्रदेशानामसंस्पर्शनमिति, सूक्ष्मश्चायमर्थः केवलिगम्यो भावत इति ॥ एगेणं समयेणं ति । कुत इत्याह । अविग्गहेणं ति–अविग्रहेण वक्ररहितेन, वक्र एव हि समयान्तरं लगति प्रदेशान्तरं च स्पृशतीति । उड्ढं गंता–ऊर्ध्वं गत्वा सागारोवउत्तेति–ज्ञानोपयोगवान् सिज्झति–कृतकृत्यतां लभते इति"॥ "सोऽस्पृष्टया हि गत्या–ऽनन्तरमेव समये जगच्छिखरम् ॥ अवगाहतेऽन्तरा (तेतरां) ते–न नास्ति ननु भो व्रजत्कालः ॥ १ ॥ सिध्यति गत्वा ह्यस्मात्, सिद्धिक्षेत्रेऽपहाय देहमिह ॥ न ह्यन्तराऽस्ति सिद्धि–र्नासिद्धिश्चास्ति मुक्तस्य ॥ २ ॥ [स्ववशस्यानभिसन्धेः, कृतकृत्यस्य च यथा स्वभावेन ॥ तस्योपयोग इष्टस्तथा गतिः सा स्वभावेन ॥ ३ ॥ " अ० १० सूत्र० ७] इति तत्त्वार्थवृत्तौ ॥ अत्र कश्चिदविपश्चित् ' सूक्ष्मश्चायमर्थः केवलिगम्यो भावतः ' इतिवचनश्रवणादुत्कन्धरीभूय प्रकृतार्थस्य सन्दिह्यमानतामवलम्बमान आचार्यपरम्परया विप्रतिपन्नतयाऽनुपदर्शितमप्यर्थं विप्रतिपन्नत्वेनोद्भावयन् कृतान्तव्याकोपभाग् भवति। तदुक्तम् " आयरियपरंपरएण, आगयं जो उ आणुपुव्वीए ॥ कोवेइ छेयवाइ, जमालिनासं स णासिहिइ ॥ १ ॥" इति ।

अथ सुहृद्भावेनैव पृच्छामः,सूक्ष्मत्वं केवलिगम्यत्वं चात्र कथमुक्तमिति चेत् ,एकसमयावच्छेदेन प्रभूतान्तरालप्रदेशस्पर्शनातिक्रमेण स्पृशद्गतिप्रक्रमस्य सांव्यवहारिकप्रत्यक्षेणादृष्टपूर्वत्वात्।न त्वेवंविधवचनभङ्ग्याऽऽज्ञाग्राह्यत्वमात्रमत्रोक्त्वाव्य मूकतयाऽवस्थानं सङ्गतं " ततो भवोपग्राहिकर्मजालं क्षपयित्वा ऋजुश्रेणिं प्रतिपन्नोऽस्पर्शमान(ऽस्पृशद्)गत्या सिज्झतीत्यत्र बहुवक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः" इति हारिभद्र्यामावश्यकवृत्तावस्यार्थस्य बहुवक्तव्यत्वेनोक्तत्वात् ।

सिद्धिक्षेत्रं व्रजतः सिद्धस्यास्पृशद्गतितत्त्वप्ररूपणम् ॥

॥ ३४ ॥

न चाऽऽज्ञामात्रग्राह्येऽर्थे बहुवचनावसरोऽस्ति,आज्ञाग्राह्यमर्थं युक्त्या समर्थयतोऽपसिद्धान्तापातात्। तदाह भगवान् सम्मतिकारः–"जो हेउवायपक्खम्मि,हेउओ आगमे अ आगमिओ ॥ सो ससमयपण्णवओ,सिद्धन्तविराहगो अण्णो ॥३–४५॥" इति। नन्वेवं बहुवक्तव्यत्वेन हेतुवादप्रविष्टस्यार्थस्य केवलिगम्यत्ववचनमपसिद्धान्तदोषग्रस्तं स्याद् इति चेत्,न,निरपेक्षाज्ञाग्राह्यत्वाभावेनात्र हेतुग्राह्यत्वाद्,अत एव 'भव्यो ज्ञानादिमान् सिद्ध्यति' इत्याज्ञागम्येऽर्थे हेतुग्राह्यत्वमविरुद्धम्। तथा च सम्मतिकारः। "भविओ सम्मद्दंसण–नाणचरित्तगुणलद्धिसंपन्नो ॥ नियमा दुक्खन्तकडो–त्ति लक्खणं हेउवायस्स॥३–४४॥"अथ'तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति'इत्यादिजातीयवचनानामन्यत्र विप्रतिपत्तिसूचकत्वेनैव दर्शनात्,'सूक्ष्मश्चार्यमर्थ'इत्यादिवचनस्यापि विप्रतिपत्तिसूचकत्वमेवास्तु, 'अत्र बहुवक्तव्यम्'–इतिवचनस्यापि बहुविप्रतिपत्तिकत्वव्यञ्जकतयैव समर्थयितुं शक्यत्वाद् इति चेत्, स्वकीयवचनश्रद्धालुमुग्धजनपर्षन्मध्य एवेदं निगद्यमानं शोभते, न तु पण्डाकण्डूलवदनपण्डितपर्षदि, यतो बलवदनेकजनसम्मतविरुद्धनानार्थप्रदर्शनपूर्वकमेव केवलिगम्यत्ववचनं विप्रतिपत्तिव्यञ्जकमुपलभामहे, न त्वन्यथाऽपि। अन्यथा 'सुहुमा आणागिज्झा, चक्खुप्फासं न ते जन्ति'–इत्यादिवचनानामपि विप्रतिपत्तिप्रदर्शकत्वापत्तेरिति किमधिकबालचेष्टितक्षोदेन ॥ कश्चित्त्वत्यन्तप्रगल्भस्तावत्यैवावगाहनयाऽपि स्पृशन्तीं गतिमचिन्त्यशक्तिकत्वेन कल्पयति, प्रष्टारं प्रति चाऽचिन्त्यशक्तिकत्वमेव प्रत्युपदिशति 'हरीतकीमात्रप्रतिकारज्ञाता कुवैद्य इव यत्र तत्रामयचिकित्सायां हरीतकीभक्षणोपयोगम्।' स एवं प्रतिबोद्धव्यः ॥

सौम्य! किमेवं कुगुरूपदेशाद्विप्रलब्धोऽसि, नहि वयमचिन्त्यशक्तिकत्वेन बाधितमप्यर्थमबाधितवदुपदिशामः, शक्तिसहस्रेणापि बाधितस्य अबाधितवत् कर्तुमशक्यत्वात्, तावत्यैवावगाहनया सकलान्तरस्पर्शनं त्वङ्गुल्यग्रेण त्रैलोक्यस्पर्शनवद्बाधित-

[illegible]स्पृशद्-
[illegible]-१६
[illegible]म् ॥
॥ ३५ ॥

मेव, किञ्चिदन्तरालस्पर्शनमपि समयाभेदात् तथैवेति, किन्त्वेकसामयिक्याः सिद्ध्यतोऽस्पृशद्गतेरितरास्पृशद्गतिवैलक्षण्यमेव ॥ तथाहि । बहुतरान्तरालप्रदेशसंयोगव्यापारकप्राप्तिजनकत्वरूपं स्पृशत्त्वम्, अल्पतरान्तरालप्रदेशसंयोगव्यापारकप्राप्तिजनकत्वरूपमस्पृशत्त्वं च मन्दतीव्रक्रिययोरापेक्षिकं प्रसिद्धमेवोपलभ्यते मन्दं गच्छति तीव्रं गच्छति इत्यादिव्यवहाराणां स्पृशत्त्वास्पृशत्त्वावलम्बनतयैवोपपत्तेः । एतेन " वेगेन गच्छतीत्यादिव्यवहाराद् वेगाख्यस्य गुणान्तरस्य सिद्धिः " इति वैशेषिकाद्यभिमतमपास्तं निरवधिकवेगव्यवहारदर्शनाद् वेगस्यास्पृशत्त्वाख्यतीव्रत्वाऽतिरिक्तत्वे मानाभावात् तस्य गुणान्तरत्वे मान्द्यस्यापि गुणान्तरत्वापत्तेश्च मन्दं गच्छतीत्यादिव्यवहारस्यापि जागरूकत्वात् । मान्द्यं वेगाभाव एवेति चेत्, वेग एव मान्द्याभाव इत्यपि किं न स्यात् । न च पातप्रतिबन्धकत्वाद्वेगसिद्धिः, क्रियाविशेषस्यैव पातहेतुत्वाद्वेगेन पततीत्यादिव्यवहाराद्वेगविशेषस्य पातानुकूलत्वाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः । न च सन्निहितदेशसंयोगं विना व्यवहितदेशसंयोगस्यासम्भवादस्पृशद्गतिर्विरुद्धेवेति शङ्कनीयम्–तत्तत्क्रियायास्तत्तदुत्तरदेशसंयोगहेतुत्वेनाविरोधात्, तदिदमुक्तं दर्शनान्तरीयैरपि "अचिन्त्यो हि तेजसो वेगातिशयो यत् सन्निहितदेशविशेषं विमुच्यैव व्यवहितदेशे संयुज्यते" इति, इदमेवाभिप्रेत्य च स्थानाङ्गवृत्तिकृतोक्तं दशमस्थानके दशविधमजीवपरिणामं विवृण्वता "गतिपरिणामो द्विविधः स्पृशद्गतिपरिणाम इतरश्च, तत्राद्यो येन प्रयत्नविशेषात् क्षेत्रप्रदेशान् स्पृशन् गच्छतीति, द्वितीयस्तु येनास्पृशन्नेव तान् गच्छति, न चायं न सम्भाव्यते, गतिमद्द्रव्याणां प्रयत्नभेदोपलब्धेः, तथाहि, अभ्रङ्कषहर्म्यतले गगने(तलगत)विमुक्ताऽश्मपातकालभेद उपलभ्यते, अनवरतगतिप्रवृत्तानां वा देशान्तरप्राप्तिकालभेदश्चेत्यतः सम्भाव्यतेऽस्पृशद्गतिपरिणाम इति " । [प्रज्ञापनात्रयोदशपरिणामपदगताजीवपरिणामभेदेषु " बह- ॥ ३५ ॥

सिद्धिश्चेत्र
व्रजतः
सिद्धस्याऽ-
स्पृशद्गति-
तत्त्वप्र-
रूपणम् ॥

परिणामेणं भंते" इत्यादि, द्विविधो गतिपरिणामः, तद्यथा, स्पृशद्गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामश्च । तत्र वस्त्वन्तरं स्पृशतो यो गतिपरिणामः स स्पृशद्गतिपरिणामः, यथा ठिक्करिकाया जलस्योपरि प्रयत्नेन तिर्यक्प्रक्षिप्तायाः, सा हि तथा प्रक्षिप्ता सती अपान्तराले जलं स्पृशन्ती स्पृशन्ती गच्छति, बालजनप्रसिद्धमेतत् ॥ तथाऽस्पृशतो गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामः यद्वस्तु न केनापि सहापान्तराले संस्पर्शनमनुभवति तस्यास्पृशद्गतिपरिणाम इति भावः ॥ अन्ये तु व्याचक्षते, "स्पृशद्गतिपरिणामो नाम येन प्रयत्नविशेषात्क्षेत्रप्रदेशान्स्पृशन् गच्छति ॥ अस्पृशद्गतिपरिणामो येन क्षेत्रप्रदेशानस्पृशन्नेव गच्छति" इति, तन्न बुद्ध्यामहे नभसः सर्वव्यापितया तत्प्रदेशसंस्पर्शव्यतिरेकेण गतेरसम्भवात् ॥ बहुश्रुतेभ्यो वा परिभावनीयम् ॥" इति तद्वृत्तौ मलयगिरिपादाः ॥] तदेवमापेक्षिकास्पृशद्गत्यपेक्षया सकलान्तरालप्रदेशास्पर्शनावगुण्ठितायां सिद्धगतोऽस्पृशद्गतौ वैलक्षण्यं न्यायप्राप्तमेव, तत्र चाचिन्त्यशक्तिकत्वमेव निर्वाहबीजम् । यथा दण्डादिक्रमवत्यां सर्वथास्पृशद्गतौ आपेक्षिकस्पृशद्गतिवैलक्षण्ये तदेव निर्वाहबीजमिति । अथापेक्षिकं स्पृशत्त्वमस्पृशत्त्वं च नाचिन्त्यशक्तिकत्वनिर्वाह्यम्—अर्धसमाजत्वात् एकापेक्षया स्पृशत्त्वस्येवान्यापेक्षयाऽस्पृशत्त्वस्यापि जन्यतावच्छेदकत्वे विनिगमकाभावाच्च, एवं सर्वथा स्पृशत्त्वमस्पृशत्त्वमपि च तथैव सकलान्तरास्पर्शस्पर्शपूर्वकत्वयोरपि तथात्वादिति चेत्, न, तादृशधर्मस्यापि शक्तिनिर्वाह्यत्वात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्—अनन्तशक्तिकवस्त्वभ्युपगमे दोषाभावात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्ध्यविरोधाच्च ॥ इत्यधिकं व्युत्पादितमस्माभिः स्याद्वादकल्पलतायाम् ॥ सुहृदनुग्रहमात्रं पुनरेतल्लिखनप्रयोजनमिति श्रेयः ॥ इति अस्पृशद्गतिवादः समाप्तः ॥

॥ महोपाध्याय श्रीयशोविजयगणिप्रणीतः दार्शनिकविचारगर्भितः श्रीविजयप्रभसूरिस्वाध्यायः ॥

श्रीविजयदेवसूरीशपट्टाम्बरे,जयति विजयप्रभसूरिरर्कः ॥ येन वैशिष्ट्यासिद्धिप्रसङ्गादिना,निर्जगृहे योगसमवायतर्कः ॥श्रीविजय०॥१॥ ज्ञानमेकं भवद्भिश्चकृत्केवलं,दृष्टबाधा तु कर्तरि समाना ॥ इति जगत्कर्तृलोको(वादो)त्तरे सङ्गते,सङ्गता यस्य धीः सावधाना ॥ श्रीविजय० ॥२॥ ये किलाऽपोहशक्तिं सुगतसूनवो, जातिशक्तिं च मीमांसका ये ॥ सङ्गिरन्ते गिरं ते यदीयां नय-द्वैतपूतां प्रसद्य श्रयन्ते ॥ श्रीविजय० ॥३॥ कारणं प्रकृतिरङ्गीकृता कापिलैः, कापि नैवाऽऽत्मनः कापि शक्तिः ॥ बन्ध-मोक्षव्यवस्था तदा दुर्घटे-त्यत्र जागर्ति यत्प्रौढश(यु)क्तिः ॥ श्रीविजय० ॥४॥ शाब्दिकाः स्फोटसंसाधने तत्परा, ब्रह्मसिद्धौ च वेदान्तनिष्ठाः ॥ सम्मतिप्रोक्तसङ्ग्रहरहस्यान्तरे, यस्य वाचा जितास्ते निविष्टाः ॥ श्रीविजय० ॥ ५ ॥ ध्रौव्यमुत्पत्तिवि-ध्वंसकिर्मीरितं, द्रव्यपर्यायपरिणतिविशुद्धम् ॥ विस्रसायोगसङ्घातभेदाहितं, स्वसमयस्थापितं येन बुद्धम् ॥ श्रीविजय० ॥ ६ ॥ इति स्तुतः श्रीविजयप्रभो भक्तित-स्तर्कयुक्त्या मया गच्छनेता ॥ श्रीयशोविजयसम्पत्करः कृतधिया-मस्तु विघ्नापहः शत्रुजे(ने)ता ॥ श्रीविजय० ॥ ७ ॥ तर्कयुक्तिगुम्फितः श्रीविजयप्रभसूरिस्वाध्यायः सम्पूर्णः ॥

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिप्रणीता १ श्रीउत्पादादिसिद्धिद्वात्रिंशिकाविवरणं (त्रुटितावस्थं)
२ श्रीवादमालाप्रकरणं-३ श्रीअस्पृशद्गतिवादप्रकरणं-४ श्रीविजयप्रभसूरिस्वाध्यायश्चेति ग्रन्थरत्नचतुष्टयी सम्पूर्णा ॥

[redacted] [redacted] [redacted]

भारतीय [illegible] काशी

यह पुस्तक वितरित तिथिसे [illegible]

१५ दिनके अन्दर वापस आजानी चाहिये।
